उत्तम पुरुष

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की कविताएं

श्री जानकीवल्लभ शास्त्री शास्त्राचार्य हिन्दी श्रेष्ठ कवि, आलोचक और कहानी-लेखक हैं।

अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता, लेखन-कौशल और दिव्य व्यवहार से उन्होंने अनेक बार मुझपर अपनी गहरी छाप डाली है।

हिन्दी के साहित्यिक उत्थान में बिहार की इस आधुनिक प्रतिभा को मानना पड़ता है। जानकीवल्लभ यहाँ के और समस्त हिन्दी भाषी प्रान्तों के प्रतिभाशालियों में एक हैं।

सच तो यह है कि वे सामयिक हिन्दी काव्यधारा और सामयिक प्रकाशन-शैली के एक सुन्दर प्रतिनिधि हैं।

- निराला

एक अशान्त आत्मा–जिसके कण्ठ में कोमल स्वर, मस्तिष्क में सपक्ष कल्पना और हृदय में भावना का सागर -

जहाँ एक ही साथ समुद्र का हाहाकार, पंछी का कलरव और वंशी की तान-

-रामबृक्ष बेनीपुरी

आधुनिक हिन्दी कविता में गीतिकाव्यों की कमी नहीं है। अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने मधुर और मादक गीतों की रचना की है, किन्तु पं॰ श्री जानकीवल्लभ शास्त्री के समान सुदृढ़ साहित्यिक आधार और विशाल सांस्कृतिक परम्परा बिरले ही को प्राप्त होगी।..... कवि जीवन के साथ प्रत्यक्ष संबन्ध को काव्य का प्रधान प्रेरक तत्त्व मानता है। उसकी दृष्टि में काव्य केवल कल्पना-विलास नहीं है, वह जीवन को मथकर निकाला हुआ सार है। कालिदास कवि के प्राणों में रमे हुए हैं। जिसके चित्त में कालिदास व्याप्त नहीं हुए उसने

उत्तम पुरुष

(आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की एक सौ एक कविताएं)

अभिधा प्रकाशन
मुजफ्फरपुर

उत्तम पुरुष

(आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की एक सौ एक कविताएं)

संकलन एवम् सम्पादन

डॉ॰ रेवतीरमण

मूल्य	:	१५५ रुपये
सर्वाधिकार	:	आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री
प्रथम संस्करण	:	२००१
प्रकाशक	:	अभिधा प्रकाशन राजेन्द्रपुरी, मुजफ्फरपुर-८४२००१
अक्षर-संयोजन	:	INPUT SYSTEM Bhikhanpura, Muz. ☎ - २७००४७
मुद्रक	:	एस. एन. प्रिन्टर्स, दिल्ली-३२

Uttam Purush (Poems)
by *Acharya Jankivallabh Shashtri*

अविचलता का प्रतिमान : एक और महाप्राण

बीसवीं शताब्दी के समूचे भारतीय साहित्य के परिदृश्य में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री एक बड़े और विलक्षण कवि हैं, इतिहास और आलोचना को पुनर्मूल्यांकन के लिए लगभग पूरी तरह विवश कर देने की क्षमता के एक और महाप्राण कवि। निराला उन्हें संस्कृत से हिन्दी में ले आये। अपने कवि जीवन के आरंभ से ही शास्त्री जी संस्कृत में उच्चकोटि की कविताएँ लिखते रहे। संस्कृत को उन्होंने मातृभाषा की तरह अर्जित किया था। संस्कृत छोड़कर हिन्दी-भारती को ही समृद्ध करने का संकल्प उन्होंने निराला की प्रेरणा से लिया। यह और बात है कि एक रचनाकार के रूप में निराला का अनुसरण करना उनका लक्ष्य कभी नहीं रहा। उनका अन्दाजे बयां अपना है; 'बाँकपन पहचान है मेरी'- खुद उन्होंने ही लिखा है। रचना में शास्त्री जी कालिदास से होड़ लेते हैं, रवीन्द्रनाथ से आगे निकल जाने की कोशिश करते हैं। उनके रचना-समय को ध्यान में रखकर आलोचक उन्हें कभी छायावाद-रहस्यवाद के असर में देखते हैं, कभी उत्तर छायावाद के प्रवाह में पहचानते हैं। रहस्यवाद के दर्शन से उन्हें एतराज नहीं है, स्वभाव और संस्कार से वे एक धर्मप्राण मनुष्य हैं और जीवन-चर्या भी उनकी बिल्कुल प्राचीन ऋषियों वाली है। उत्तर छायावाद की प्रवृत्तियों में जोश, जवानी, उमंग, उत्साह की कोई कमी उनके काव्य में नहीं है। फिर भी रहस्यवाद और उत्तर छायावाद के परिदृश्य और प्रभा-वृत्त में शास्त्री जी समग्रता में नहीं अँटते। उन्होंने रहस्यवाद की सांकेतिकता ली है, मगर अस्पष्टता पर अंकुश भी लगाया है। उत्तर छायावाद में एक खतरनाक खुलापन है और जगह-जगह उदग्र बहिर्मुखता भी। लेकिन शास्त्री जी में एक अन्तःप्रेरित अनुशासन है। वे अन्तर्वस्तु को गहरी रचना-ऊर्जा से सँवारते हैं। प्रचारात्मक और रचनात्मक के अन्तर की उनकी परख में कहीं चूक नहीं मिलती। उन्होंने सजग रहकर रचनात्मक का पक्ष प्रबल किया है। उनकी कविता की प्रकृति प्रेमगीतात्मक है, प्रगीतात्मक भी। अत्यधिक संवेदनाप्रवण और निश्छल भावुक शास्त्री जी की कला आद्यन्त विचार-संवाहिका है। हिन्दी में प्रसाद, निराला के बाद शास्त्री जी ही सबसे बड़े दार्शनिक कवि हैं, ठीक उसी अर्थ में, जिसमें कालिदास भारत के एक महान दार्शनिक कवि हैं, संभवतः रवीन्द्रनाथ भी।

शास्त्री जी बीसवीं शताब्दी की अद्वितीय भारतीय मेधा हैं। एक ऐसी शताब्दी, जिसकी साहित्यिक उपलब्धियाँ अपनी समृद्धि में अलग से इतिहास-लेखन की माँग करती

हैं। बीसवीं शताब्दी अंग्रेजी साम्राज्यवाद के देश व्यापी वर्चस्व-विस्तार और संक्रमण की शताब्दी है तो उससे लगातार हमारी जातीय अस्मिता के मुक्ति-संघर्ष की भी शताब्दी है। इसमें ठेठ साहित्यिक कहे जानेवाले भी कई छोटे-बड़े आन्दोलन हुए। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता, नवगीत, समकालीन साहित्य जैसी प्रवृत्तियों और आन्दोलनों का जिक्र साहित्येतिहास-लेखक करते हैं। शास्त्री जी को इनमें से किसी भी एक के साँचे में व्यवस्थित कर पाना असंभव है। लेकिन ये ऐसे आन्दोलन हैं जो उनके सामने ही उठ-उठकर गिरे हैं, और कोई ठान ले तो उनकी सुदीर्घ कविता-यात्रा में इनसे आत्मीय संवाद के स्फुट संकेत-चिह्न ढूँढ़ सकता है। मानना पड़ेगा कि आन्दोलनों और प्रवृत्तियों के इतिहास की वस्तु बन जाने के कारण भी कई रचनाकार, स्वल्प पूँजी और उछल-कूद के बावजूद आगे भी याद किये जाते रहेंगे। इस विशाल समय के परिदृश्य में 'लघु मानव, लघु परिवेश' का अपना महत्त्व है, इतिहास और आलोचना के लिए 'फास्ट फूड' की तरह उपयोगी। इसमें 'यूज एण्ड थ्रो' का उत्तर आधुनिक प्रचलन है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य-साधना का ध्यान करें तो उन्हीं की एक कविता 'अश्वत्थ' का बिम्ब सामने आ जाता है। एक विशालकाय वृक्ष, मगर बरगद नहीं, पीपल हो तो हो। साधना प्रकाश की है। सूर्य का संकेत अज्ञेय के 'बावरा अहेरी' में है। अश्वत्थ पीपल हो सकता है, एक पवित्र देव-तरु जो किसी के विकास में कभी बाधक नहीं रहा। 'अश्वत्थ' के सम-सामयिक जो भी पौदे रहे, एक-एककर सबके सब खिसक गये। जुही, माधवी, बेला की फुलवारी में महमह करती केसर की क्यारियाँ। बाल रसाल और तरुण तमालों से घिरा रहा अश्वत्थ। उसकी डालियों पर पंछी चहचहाते थे। सबके सब उड़ चले। 'एक बार देखे जो उधर, नजर न इधर फिर फेरे।' अश्वत्थ का अन्दाज है -

घर-घर जिनकी चर्चा थी साँझ-सबेरे,
जल्दी-जल्दी जो बढ़े, चढ़े सुर-सिर पर'
मुरझा-मुरझा कर मरे, अरे ! गिर-गिर कर !

क्यों हुआ ऐसा ? अश्वत्थ का विचार है कि असमय उठे और आँखों से ओझल हुए वे सब खुद के बल पर नहीं बढ़े थे, बढ़ाए गये थे। उन्हें 'सींचा करते माली दिन भर मुँह बाये।' पुन: 'होता प्रचार उनका हर प्रदर्शनी में।' उनकी सुगन्ध उड़ती अवनी-अम्बर में।' उनका प्रायोजन प्रतिभाहन्ता सिद्ध हुआ। मौसमी हवा के संग वे आए- 'कुछ दिन इतरा, रख सर पर पाँव पराए।' अब उनका कहीं अता-पता नहीं। लेकिन अश्वत्थ खड़ा है आज भी।' क्योंकि उसकी जड़ें पाताल में गई हैं, धरती में दूर तक फैली हैं, उन्हें रस के स्रोत का पता जो है। अत: वर्षा हो, हिमपात हो, आग लगे, भू-कम्प आए, अश्वत्थ को कुछ फर्क नहीं पड़ा। जहाँ अन्य तरु त्रहि-त्राहि कर रहे थे, अश्वत्थ हँस-हँसकर सब झेलता गया। प्रतिकूल हवा के झोंके से सारे धराशायी हो गये, लेकिन अश्वत्थ अपना सिर उठाये स्वर्ग-धरा-सम्मिलन-साधना में स्थिरचित्त लगा रहा–

सब फिसल गये स्वर्गीय सीढ़ियाँ चढ़कर,
सब पिछड़ गये ऊपर उठ-उठ, बढ़-बढ़कर
अश्वत्थ खड़ा है आज भी !

जो धराशायी हो गये, फिसल गये, आँखों से ओझल हो गये, वे खासतौर से 'वाद' वाले थे। गुट और संप्रदाय वाले। जब जैसी माँग के अनुरूप रचना-उत्पादन के कार्य करते रहे। ट्रेण्ड बदल गया तो ट्रेड मार्क भी बदलना पड़ा । शास्त्री जी को जल्दी नहीं थी। उन्हें अपनी प्रतिभा और क्षमता पर भरोसा था। उन्होंने किसी साहित्यिक या गैरसाहित्यिक आन्दोलन की अगुआई नहीं की, लेकिन एक ऐसा साहित्यिक व्यक्तित्व विकसित किया कि आज सबको उनकी जरूरत महसूस होने लगी है। जो समय के सीमित रूप वर्त्तमान को ही अपनी रचना समर्पित कर देता है, वह सम-सामयिकों के विशेष प्रयोजन का होता है, हो सकता है। शास्त्री जी भूत और भविष्य समेत वर्त्तमान को अभिव्यक्ति देते हैं। उनकी कविता का दिक् और काल बड़ा है, व्यापक है। शाश्वत और सनातन उनके काव्य में अर्थ गौरव पाते हैं, जबकि विचारधारा के नाम पर उन्हें निर्वासित किया गया है। छायावादी कवियों में आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति प्रमुख है। वे कवि 'मैं' का प्रयोग बहुत करते थे। लेकिन छायावदियों के द्वारा प्रयुक्त 'मैं' का स्वरूप एक जैसा नहीं है। उनमें निराला का 'मैं' सर्वाधिक प्रशस्त है। वह उस आत्म का प्रतिनिधि है, जिसका विस्तार निराला निरन्तर करते गये हैं। मुक्तिबोध 'अन्तःकरण के आयतन' की बात करते हैं। शास्त्री जी आत्मनिष्ठ हैं, उनकी अभिव्यक्ति आत्मपरक है, लेकिन उनका आत्म संक्षिप्त नहीं, व्यापक है। स्वभावतः उनके 'अन्तःकरण का आयतन' विस्तीर्ण है। इससे वस्तुनिष्ठ की कमी कोई कमी नहीं रह जाती। ऐसा कवि, जिसके 'अन्तःकरण का आयतन' बड़ा हो, किसी विशेष समय या 'वाद' रूपी खूँटे से कैसे बाँधा जा सकता है ? तथापि शास्त्री जी ने पुरुषार्थ का पक्ष लिया है और कोई उन्हें 'पुरुषार्थवादी' कहना चाहे तो कह सकता है। उनका अश्वत्थ जिस विशाल कवि-वृक्ष का रूपक बना है वह वसन्त की भाँति 'आत्मदान का संदेशवाहक' है। उसमें वात्सल्य की प्रचुर आभा है। वह सबका आश्रय है। बालक-बालिकाओं, साध्वी-सुहागिनों, पशुओं, श्रान्त पथिकों, ग्वाल-बाल सबके लिए स्वागत में बाँहें फैलाए। जो भूखे हैं, उनके लिए उसके पास मीठे फल हैं। नटखट बालकों के लिए सँभलकर चलने की सीख भी—हैं उधर घोंसले हर पग। 'अश्वत्थ' के प्रसंग में याद आता है अज्ञेय का 'किरीटी तरु'-

उसके कानों में हिमशिखर रहस्य कहा करते थे अपने
उसके कन्धे पर बादल सोते थे
उसकी करि शुण्डों-सी डालें
हिम-वर्षा से पूरे वनयूथों का कर लेती थीं परित्राण
कोटर में भालू बसते थे
केहरि उसके वल्कल से कन्धे खुजलाने आते थे
जड़ उसकी जा पहुँची थी पाताल लोक
उसकी गन्धप्रवण शीतलता से फण-टिका
नाग वासुकि सोता था -

अश्वत्थ वयोवृद्ध बाद में हुआ, ज्ञानवृद्ध शैशव में ही हो गया। उसके पास संघर्षमय जीवन के संचित अनुभव हैं। रचनात्मक संदेश कि-

जूझो भी, क्यों भागे जाते जीवन से ?
तन से न शान्ति मिलती, मिलती है मन से
जीवन का अर्थ न आत्महनन हो सकता,
रो-रोकर कोई कैसे दुःख खो सकता ?

ऐसा जो अश्वत्थ है, उससे रूठ जाना या किसी का उसके सामने चीख पड़ना एकदम बेमानी है। श्रेय है- 'अश्वत्थ-पदों में बैठ सहज कुछ सीखो'। यह भी कि -

'मत डरो, किसी से और न कभी डराओ,
सिर झुका-झुका कर उन्नत हृदय बनाओ।'

अश्वत्थ की छाँह शीतल है। वह चैतन्य सदृश सुख की बाँहें फैलाए है। उसकी जड़ कभी मैली नहीं हो सकती, कोई बैठे ! उसका मन गगन है, और वह स्वयं समग्रता में 'अविचलता का प्रतिमान' –

पार नहीं, मझधार नहीं, झकझोर रही पुरवैया
X X X
डूब गये जलयान हजारों कश्ती की क्या हस्ती ?
फिर भी मौजों के सर चढ़कर हँसती मेरी मस्ती
मैंने अपने हाथों खेई, मेरा न था खिवैया। (धूप-तरी, पृ० - 16)

जो अपनी नाव खुद खेते हैं, उन्हें मझधार में डूब जाने का भी कोई पश्चात्ताप नहीं होता। शास्त्री जी ने एक कवि की आस्था से स्वतःस्फूर्त गद्य भी लिखा है, पद्य भी। मात्रा और गुण दोनों में पर्याप्त। उनमें बातें हजार हैं तो उन्हें कहने का ढ़ंग भी हर बार निराला है। हर पंक्ति लालित्य और गति की उत्कृष्ट संरचना। उन्होंने सतही या यूँ ही कुछ नहीं लिखा।

शास्त्री जी की आत्मसजगता हो या कलात्मक सजगता, चकाचौंध करती है। जो आँखें नहीं टिका पाते, वे उनकी आत्मसजगता को व्यक्तिवाद और कलात्मक सजगता को रीतिवाद या रूपवाद भ्रववश समझ बैठते हैं। वस्तु-स्थिति के सटीक-संज्ञान के अभाव में जो क्षति होती है, उसकी भरपाई संभव नहीं। यहाँ इतना ही कहना है कि शास्त्री जी ने निरुद्देश्य कुछ भी नहीं लिखा है। एक स्पष्ट लक्ष्य लेकर चले हैं वे। जातीय संस्कृति की गहरी समझ के साथ उन्होंने लिखा है। 'लघु-लघु गात' से अलग महत् और उदात्त से नाता जोड़ लेने के कारण उनकी मुश्किलें बढ़ गई हैं। उनका अर्थाभावग्रस्त जीवन सार्थक रचना में ढल गया है, अभाव भाव बन गया है। हम कह सकते हैं कि शास्त्री जी का काव्य भाषा की संस्कृति के साथ जिन्दगी की कहानी भी है। 'मेरी भी एक कहानी हो' उनकी आकांक्षाओं का लघुतम समापवर्त्तक है। यह अलग बात है कि शास्त्री जी इतना लिखने के बाद भी महसूस करते हैं- **'जिन्दगी की कहानी रही अनकही।'** इसमें **'अर्थ क्या शब्द ही अनमने रहे गये/कोश से जो खिंचे तो तने रह गये।'** वेदना अश्रु पानी बनी, **बह गई'**– एक मर्मस्पर्शी व्यर्थता का बोध। जबकि स्थिति इसके ठीक विपरीत है। शास्त्री जी की अभिव्यक्ति सफल और प्रसन्न है। उसमें कहीं झोल नहीं है। मकड़ी का जाला नहीं है उनकी संरचना। पर उसे स्पष्टतावाद की गिरफ्त में भी देखना संभव नहीं है। एक विशाल

शब्द-भण्डार वाले सिद्धवाक् कवि हैं शास्त्री जी। शब्दों के अन्तर्वाह्य जीवन और संघटन की जानकारी उनकी पाणिनि पतंजलि-सरीखे वैयाकरण की है तो उनकी क्षमता और ऐश्वर्य को, उन्होंने अलंकार शास्त्र की समृद्ध परम्परा को आत्मसात कर उजागर किया है। सकल शास्त्रों की व्यवस्थित और सुसंगत ज्ञानात्मक संवेदना उनके अस्तित्व से अभिन्न है- पर वही सब कुछ नहीं। शास्त्री जी मूलत: संवेदनात्मक ज्ञानधारा के कवि हैं और कविता का तीसरा क्षण उनकी पूर्णता की साधना का भी दिग्दर्शक है। इस मामले में लोक के आग्रह से भी शास्त्री जी कभी समझौता नहीं करते। उनकी कविता हो या गद्य-रचना, सब जगह शब्द के सटीक अर्थ में प्रयोग की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। किसी को भी अपनी जगह से हिलाया-हटाया नहीं जा सकता। शब्द उनके संसार में निर्विकल्प हैं।

शास्त्री जी किसी भी स्तर पर रियायत की माँग नहीं करते। कसौटी भारतीय हो, जातीय जीवन के दृश्यालेखों के अनुरूप हो तो अपनी मान्यताओं के अनुरूप इस कवि जीवन और व्यवहार का रहस्य समझ में आएगा ही। उनके शब्द और कर्म के बीच हाइफन की जरूरत नहीं। उसमें उनकी रूचि-अरूचि, पसन्द-नापसन्द अपनी जगह है। कोई लागलपेट नहीं, घालमेल नहीं। **'बात ईमान की या कहो मान की/चाहता गान में मैं झलक प्राण की।'** मुश्किल यह है कि आज लोग न ईमान की बात करते हैं, न स्वाभिमान की। अजब सा कवि-व्यक्तित्व इधर दिखाई पड़ता है, दाँत निपोड़े, आत्म-स्थापन के लिए खुशामद करते, एक बेहया कारोबारी व्यक्तित्व। शास्त्री जी की कविता और कुछ नहीं उनके जीवन और चिन्तन की अभिव्यक्ति है। जीवन जीने की कला है और चिन्तन सभ्यता के आर-पार संस्कृति की गतिशील समझ।

कविता का गहरा संबन्ध- 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' से है। विकल्प में मादकता है। जीवन के 'अनकहे सत्य का साक्षी' मात्र कवियश:प्रार्थी कैसे हो सकता है? हालांकि शास्त्री जी का चलना, बोलना, हँसना, गाना, एकान्त, सार्वजनिक सब कविता है। मूल बात यही है कि जो लिख रहा है- कवि है या नहीं ? शास्त्री जी जन्मजात कवि हैं - **'सक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि जन्म नछत्र में दीन्ह विधाते।'** वे कविता लिखने के लिए धरती पर आकाश से अवतरित हुए और कविता लिखकर उन्होंने दोनों को मिलाने का प्रयास किया। **उनकी हर पंक्ति कविता की पंक्ति है, हर शब्द में मौलिक प्रतिभा की चमक है।** कहीं दुराव-छिपाव नहीं। अक्सर उनके पाण्डित्य की प्रशंसा करके कवित्व की श्रेष्ठता को दृष्टि से दूर कर दिया जाता है। कवि वैयक्तिक प्रतिभा-संपन्न हो तो पाण्डित्य अवरोध नहीं, सहायक का रोल अदा करता है। शास्त्र के साथ लोक चेतना की भी गहरी समझ शास्त्री जी के काव्य में विन्यस्त है। उनकी संवेदनशीलता चराचर जगत् से संबद्ध है। वह मनुष्य के साथ-साथ पशु-पक्षी, पेड़-पौधों तक से जुड़ी हुई है। कवि-दृष्टि यूँ ही व्यापक नहीं हो जाती। उसकी निरीक्षण-क्षमता अनायास ही बड़ी नहीं हो जाती। कवि को इसके लिए बड़ी तैयारी करनी पड़ती है। शास्त्री जी ने श्रुति-स्मृति सबका जमकर अभ्यास किया है और लोक-संवेदना-परिधि का भी विस्तार किया है। शब्द के मामले में वे अपने कविता-प्रेमियों का भण्डार समृद्ध करने का प्रयास करते हैं। लोक और शास्त्र दोनों से उन्होंने बड़ी संख्या में ऐसे शब्द लिये हैं जिनकी अर्थ-जिज्ञासा के

शमन के साथ पाठक का शब्द-भण्डार समृद्ध होता जाता है।

अलंकार-शास्त्र की विधिवत शिक्षा पाने के बावजूद शास्त्री जी अलंकारवादी नहीं हैं। लोक और शास्त्र के द्वन्द्व में उन्हें लोक के साथ ही देखा जा सकता है। अज्ञानवश शास्त्र के अनादर से उन्हें आक्रोश होता है। उन्होंने संगीत शास्त्र का विधिवत अध्ययन किया है। विभिन्न राग-रागिनियों में उन्होंने गीतों की रचना की है। नायिका-भेद की परम्परा को शास्त्री जी ने नया जीवन दिया है। इस सबके बावजूद पक्ष उनका जीवन है, जातीय संवेदना और संस्कारों के साथ नया जीवन। **'हंस बलाका'** में उन्होंने लिखा है, -

'जीवन गढ़ने के लिए ही शास्त्रों का निर्माण हुआ है, शास्त्र गढ़ने के लिए जीवन नहीं बनाया गया, क्योंकि स्वयं जीवन शास्त्रों से कहीं अधिक मूल्यवान है।'

जीवन को मूल्यवान वे भी मानते हैं, जिन्होंने कभी शास्त्रों का मुँह नहीं देखा। लेकिन शास्त्री जी ने तो अपना समूचा जीवन ही शास्त्रों को समझने में खपा दिया। इसलिए उनके द्वारा शास्त्रों की तुलना में जीवन को मूल्यवान घोषित करना अधिक सार्थक है। जीवन के पक्ष में सतेज अभिव्यंजना जीवन का दिग्दर्शन भी करे, यह स्वाभाविक है। उसका उपयोगितावाद विमर्श का विषय हो सकता है। शास्त्री जी रचनात्मक के साथ कलात्मक का अद्वय संभव करते हैं। उन्होंने न शुद्ध काव्य की खोज की है, न अशुद्ध की संस्तुति ही। समय और जगह के हिसाब से उन्होंने नीति-कथन भी लिखा है, स्वगत-संलाप भी, प्रचुर संबोधनपरक-उद्बोधनात्मक और गाथात्मक भी। पर सबके मूल में गहरी रूपासक्ति है। अनासक्ति और योग के स्तर की वक्तृता की भी एक निजी रंगत है। उनकी सौन्दर्य-दृष्टि लोक के आलोक-वृत्त का अतिक्रमण करती है। अतिक्रमण उनका काव्य-स्वभाव है, लेकिन कल्पना का वैभव आधार के साथ है। शास्त्री जी का कवि गति के साथ है- **मेरे पथ में न विराम रहा/ कुछ दूर और/ कुछ दूर और/करता मैं आठों याम रहा'** लिखने वाले कवि ने यह भी लिखा है -

गागर भरने की बेला बीती जाती है।

000

शास्त्री जी की **'राधा'** नीली मुरली की पुकार सुनकर सुध बुध खो बैठती है। **'राधा'** के रचयिता को भी सुध-बुध खो बैठने का अच्छा अभ्यास है। बाँसुरी की ध्वनि सुनकर अंग-अंग फूले कदम्ब-सम/ साँस झकोरे झूले / सूखी आँखों में यमुना की लोल लहर लहराई।' ऐसे क्षण उन्हें याद आई मीरां की। वही राजस्थान की मीरां जिसे राणा ने विष का प्याला दिया।' निर्मोही मोहन से रूठी मीरां मृदु मुसकाई'- शास्त्री जी के प्रसिद्ध गीत की एक अविस्मरणीय पंक्ति है। उत्तर छायावाद के दौर में कविता में मृदु ललित पदाढ्यं पर जितना जोर शास्त्री जी का है, उतना अन्य किसी कवि का नहीं। दिनकरजी गीत-अगीत के द्वन्द्व में फँसे रह जाते हैं और बच्चन जी 'जो बीत गई सो बात गई' लिखकर तत्पर तात्कालिकता का परिचय देते हैं। नेपाली में स्वरारोह का सम्मोहन है, वेदना-विकलता भी। उन्हीं की तरह शास्त्री जी भी 'गूढ़ शब्दार्थ हीनं' नहीं रच पाते। यह एक की सफलता अतः दूसरे की विफलता ही हो, कोई आवश्यक नहीं। कविता की कवि सापेक्ष निजी अन्तरंग अवधारणा हो सकती है। खास बात यह है कि **जीवन की कठिन**

से कठिन रागिनी भी शास्त्री जी कोमल सुर में प्रस्तुत कर पाते हैं। उनका काव्य-संगीत जातीय संगीत भी बन सका है तो इसमें उनका देश-राग शामिल है। शास्त्री जी अतीत-वैभव से आक्रान्त भले न हों, उसका एक चमकदार सम्मोहन तो उनके काव्य में है ही। उनका प्रारंभ प्रतिभा के विस्फोट की तरह चमकदार था। संस्कृत में लिखे उनके काव्य में उनकी किशोरावस्था का वाग्वैदग्ध्य और भणितिभंगी प्रौढ़ों को हतचेत करनेवाली रही। वहाँ वे कालिदास और भवभूति से उदात्त और करूणा लेकर जयदेव का लालित्य सँवारते हैं। स्वाधीनता-संग्राम के समकाल को **'वन्दीमंदिरम्'** में साकार करने के बावजूद लोक वेदना तक अपनी वाग्मिता की पहुँच को संदिग्ध पाकर शास्त्री जी हिन्दी में **'रूप-अरूप'** का समां बाँधते हैं। छायावाद और प्रगतिवाद के संधि-विन्दु पर प्रयोग का परिदृश्य भी कम इन्द्रधनुषी नहीं था। उधर प्रगतिवाद का घोषणा-पत्र लिखा जा चुका था, परिणति उसकी रामविलास जी के 'रूप-तरंग' में हुई। केदारनाथ अग्रवाल 'युग की गंगा' में 'नींद के बादल' से चलकर डुबकी लगा रहे थे। इसके थोड़ा ही आगे त्रिलोचन की 'धरती' और नागार्जुन की 'युगधारा' की कविताएँ प्रकाशित हुईं। संक्रमण की घड़ी में शास्त्री जी जातीय कविता के शील और स्वभाव के साथ **'रूप-अरूप'** लेकर आये। कालिदास से तो उनकी जन्म-जन्मान्तर की आत्मीयता थी ही। लेकिन देखना यह है कि कालिदास शैव थे- खुद शास्त्री जी की मान्यता है, जबकि शास्त्री जी के काव्य में मातृ करुणा सघन है। शाक्त भाव प्रबल रूप में अन्ततः उन्हें **'श्यामा-संगीत'** रचने की प्रेरणा देता है। भले उसका बीज-भाव **'रूप-अरूप'** में ही मिल जाय। यहाँ उनका साम्य निराला से है। छायावाद की एक व्याख्या शक्ति काव्य के रूप में की गई है, शास्त्री जी उस शक्ति काव्य को व्यापकता देते हैं, उसे अधिक से अधिक 'जन पद सुखबोध्य' बनाते हैं, कवि-मंचों के केन्द्रीय आकर्षण रहे हैं शास्त्री जी। कई दशकों तक अपने आकर्षक स्वरारोहों से कविता-प्रेमियों को आनन्द-दान करते रहे हैं। संगीत और कविता का सामंजस्य महाप्राण निराला की 'गीतिका' में अद्वितीय रूप में मिलता है। शास्त्री जी ने ऐसे गीत बड़ी संख्या में लिखे हैं। उनके काव्य में संगीत के साथ चित्र-कला की बारीकियाँ भी विशेषज्ञों की समझ के लिए चुनौतीपूर्ण और आह्लादकारी हैं।

शास्त्री जी जब अपने गीतों की प्रस्तुति करते हैं तो मीरां, सूर और निराला की परम्परा को इकट्ठे नया जीवन देते हैं। यह विशेषता समकालीन कवियों के काव्य में निश्शेष हो गई है। शास्त्री जी गेय तत्त्वों को पूरा सम्मान देते हैं तो इसके पीछे उनके अनुभव हैं, कालिदास-रवीन्द्रनाथ की कविता के, आस्वाद के, प्राणों को स्पंदित-स्फुरित कर देनेवाले अनुभव। श्रेष्ठ कविता में स्मृति में सहज उतर जाने की क्षमता होती है। जो कविता स्मृति में अनायास अपनी जगह नहीं बना लेती, मानना चाहिए कि उसमें कोई कमी है। चाक्षुष और श्रवण-प्रत्यक्ष के लिए आकर्षक अवसरों के साथ शास्त्री जी की कविता में गंध-बिम्ब का विशेष आग्रह लक्षित होता है। 'गंध की अनन्त वेदना' को उन्होंने 'वसन्त' कहा है। निराला की तरह ही उन्होंने भी पावस और वसन्त को आलम्बन बनाकर प्रेरणादायी कविताएँ लिखी हैं। **'काकली'** उनका समारंभ है, परन्तु शास्त्री जी कोई भी राग गा सकते हैं, गहरी तन्मयता और राग-रागिनियों का सम्यक निर्वाह करते हुए। 'मनुष्य

अपनी चेतना की आँधी से वेदना की घन-घटा को उड़ाने का, छाँटने का आयासी है। वह सूक्ष्म होकर समझता है, स्थूल होकर भोगता है। यही उसकी नियति है। (हंस बलाका, पृ० - 213) 'अनाम, अरूप को नाम-रूप में जागरित करनेवाली कवि की रचना-प्रक्रिया वायव्य को स्पर्श-योग्य बनाने पर बल देती है, शास्त्री जी 'परम्परा और प्रगति, गेयधर्मता और काव्यधर्मता के अन्तराल पर सेतुबन्ध' में विश्वास करते हैं। समय के तात्कालिक विन्दु तक के संदर्भ-प्रसंग अन्तरंग का संग नहीं छोड़ना चाहते।

शास्त्री जी काव्य-संगीत की स्पष्ट अवधारणा बनाते हैं। जैसे निराला को नागार्जुन ने 'एक व्यक्ति : एक युग' कहा है, मैं कहना चाहता हूँ कि शास्त्री जी मात्र एक व्यक्ति नहीं, पूरा एक कवि समय हैं, कवि समय के पारिभाषिक घेरे से बाहर संस्कृति के हिस्से का व्यापक भारतीय समय उनके काव्य में पहचान पाता है, मुखरित होता है। उनकी काव्य-धारणा में **'शब्द और स्वर निर्वैर हैं।'** नाद तत्त्व के सम्यक समावेश से कविता की आयु बढ़ती है। ऋत की रागात्मक अभिव्यक्ति अत्यन्त कठिन है फिर भी यह एक कवि ही है 'जो उन्मुक्त विवेक को छन्दों का बन्धन देता है, विराग को राग में गाता है, ऋत और सत्य को रस में डूबा देखना चाहता है, एक किरण में सात रंगों की झाँकी लेता है।' (हंस बलाका, पृ०- 230) 'धूमिल तथ्य से निर्मल सत्य न केवल ऊँचा उठा हुआ है, कुश की नोक की तरह छूते ही पार कर जाने की तीक्ष्णता भी रखता है। मिट्टी अपने भारी-भरकमपन के साथ नीचे रह जाती है, उसकी मोटी आवाज भी सतह से ऊपर नहीं उठ पाती।' शास्त्री जी कविता में यथार्थ की भी विविधरूपात्मक अभिव्यक्ति करते हैं, लेकिन उनकी ऐसी कविताओं पर युग-बोध और समकालीन प्रवृत्तियों का दबाव ही मुख्य रूप से लक्षित होता है। अन्त:प्रेरणा उनकी लयात्मक है, सांगीतिक है। प्रकृति और मनुष्य से भी उन्होंने जीवन-राग का ही संचय किया है। वह पूरे स्वरारोह के साथ अन्तर्मुखी संरचना अर्जित कर पाते हैं, कहीं भी, व्यर्थता बोध के बावजूद उनमें नैराश्य नहीं है।

निराला का सामना युग-युग के अंधकार से था। अंधकार परत-दर-परत उनके काव्य में प्रतिपक्ष के रूप में मौजूद है। **शास्त्री जी का काव्य प्रकाश-पर्व है। तम-संघात पर ज्योति-प्रपात का अनोखा दृश्य है वह।**

000

इस संग्रह में शास्त्री जी के विविधरूपात्मक काव्य-परिदृश्य की एक झलक मिल सकती है। इसमें उनके अधिक संख्या में गीत संकलित हैं। कुछ मुक्त छन्द की कविताओं के अतिरिक्त पन्द्रह गजलें, एक गाथा काव्य और महाकाव्य 'राधा' के प्रथम सर्ग का एक अंश इसमें आ सका है। संकलन का उद्देश्य है- शास्त्री जी के काव्य को विगत-वैभव के भ्रामक-वृत्त से बाहर निकालकर कविता-प्रेमियों के लिए सहज उपलब्ध कराना। शास्त्री जी के कविता-प्रेमियों की संख्या बहुत बड़ी है, उसका स्वरूप प्रान्तीय और राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय भी है। सबकी अपनी-अपनी पसन्द हो सकती है। मैंने उनके प्राय: उन्ही गीतों का संकलन किया है जो अनुगूँज बनकर मेरे मन के आकाश में इन्द्रधनुष की तरह उगते-बुझते रहे हैं। गीत भी विविधरूपात्मक हैं। आप चाहे उनके

भाव-पक्ष पर विचार करें, अथवा संरचना पर, उनका विविधरूपात्मक होना अलग से प्रमाणित करने योग्य नहीं है। उनकी प्रकृति ही ऐसी है। गीत मुख्य रूप से आत्माभिव्यंजना है। इस संग्रह में ऐसे गीत अधिक हैं, जिनमें शास्त्री जी का आत्म पक्ष मुखरित हुआ है। वह बड़ा है, विभिन्न मनोदशाओं में भिन्न रूपाकार ग्रहण करता है, इसलिए अभिव्यक्ति विविधरूपात्मक होनी ही थी।

गजलों में शास्त्री जी भाषा की राजनीति को अनुत्साहित करते हैं। वे गजल की संरचना से भली-भाँति अवगत हैं। गजल में गीत और गीत में गजल का घालमेल नहीं करते। मिश्रण से उन्हें परहेज है। शुद्धता का कोई 'वाद' उन्हें स्वीकार्य नहीं रहा है, फिर भी उनकी कलासजगता अप्रतिम होने से, कभी कोई बहाने नहीं बनाती। उनकी गजलों में गालिब, मीर, फिराक की परम्परा झलकती है, लेकिन परिवेश अपना है। उर्दू रवायत नये अन्दाज में है, प्राणतत्त्व संस्कारबद्ध हैं। इन गजलों में अनुभूति की अद्वितीयता दूर से ही लक्षित होती है।

मुक्त छन्द की कविताओं में शास्त्री जी छन्द:मुक्ति का आयोजन करते हैं। लेकिन मानना पड़ेगा कि छन्द से वे पीछा नहीं छुड़ा पाते। परम्परागत छन्दों का अच्छा अभ्यास होने के कारण उनके लिए नये-नये छन्द निर्मित कर लेना सहज है। मुक्तछन्द में फिर भी एक सहजता आयी है। शास्त्री जी का जीवन-बिम्ब उनके मन का सहज प्रकाशन, निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र भी बन सका है।

प्रगीत और प्रबन्ध के प्राणतत्त्वों के सम्मिलन से आख्यान कविता का एक सर्वथा विलक्षण स्थापत्य छायावाद के प्रसाद, निराला, पन्त ने अर्जित किया था। मुक्तिबोध बाद के दौर में लम्बी कविताओं के लिए अलग से याद किये जाते हैं। शास्त्री जी व्यंग्य और करुणा के छन्दोबद्ध आयोजन में अद्वितीय हैं। 'हरिहर क्षेत्र का मेला' उनके '**गाथा**' संग्रह से लिया गया है।

शास्त्री जी की कविता-यात्रा में '**शिप्रा**' और '**अवन्तिका**' मालवा में उनके भटकते संवेदन-मन की आकर्षक प्रस्तुतियाँ हैं। इनमें वे कालिदास का आवाहन करते हैं। मनुष्य और कविता के दुर्दिनों में उन्होंने फिर से हिन्दी जाति की भाषिक संस्कृति को जीवित करना चाहा है। पुरातन के प्रति उनका आकर्षण संस्कृत की वास्तविक गरिमा का ध्यान होने के कारण है। पुरातन का सटीक संज्ञान इसकी उपलब्धि है। इसे मात्र अतीत-मोह कह देना सच्चाई से मुँह मोड़ लेने की तरह है।

'राधा' आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का सात सर्गों का एक असाधारण महाकाव्य है। इसका प्रत्येक सर्ग भी महाकाव्य के आकार-प्रकार का है। 'साकेत' और 'कामायनी' के बावजूद 'राधा' ने अपने रूप-लावण्य-संस्कार से काव्यरसिकों के हृदय में प्रतिष्ठा की जगह बना ली है। उसका आरंभिक अंश इस पुस्तक में संकलित है।

शास्त्री जी के महाप्राण कवि की जड़ें जातीय संस्कृति की गहराई का पता रखती हैं, इसीलिए उन्हें अतीतजीवी या स्मृति-निवेदित नहीं कहा जा सकता। उनका काव्य लोकप्रिय रहा है, इसमें दो मत हो ही नहीं सकते। जनता के प्रिय कवि को इतिहास और आलोचना अपने लिए उपयोगी या कहें बड़े काम का नहीं समझते। मूल्यांकन-परम्परा भी यही है। बावजूद इसके मैं कहना चाहता हूँ कि जन-कण्ठ में निवास करना, कविता-प्रेमियों के रसनाग्र

पर स्थित होना श्रेष्ठ कवित्व के लिए संभव है। 'साहित्य का समाजशास्त्र' लोकप्रिय कवियों के पुनर्मूल्यांकन का व्यवस्थित आधार प्रस्तुत करता है। शास्त्री जी यथास्थितिवादी या प्राचीनतावादी नहीं हैं। उनकी कविता नित्य नवीना है तो इसके लिए उसमें निहित शाश्वत राग और संताप हैं। वह लोकप्रिय बाद में, कविता की कला पहले है। वह कलावाद से अलग लोकमंगल का लक्ष्य है। शास्त्री जी परिवर्तन में विश्वास करते हैं, उसकी विवेकहीन उग्र रफ्तार उनका प्रेय भले न हो। समय की शिला पर उनके सुवर्ण हस्ताक्षर श्याम शिशु की तरह अक्षर हैं। शताब्दियों बाद भी उनके लिखे की अनुगूँजें नए-नए रचनाकारों का मार्ग-दर्शन करती रहेंगी। अनागत के प्रति उनका काव्य-व्यवहार अत्यन्त आत्मीय है-

धुँधले क्षितिज के पार से / आते हुए जगमग सजग का
मौन स्वागत कर रहा हूँ / जो सवेरा आ रहा-
ताप अपना, किरण अपनी ले अनोखी,
मैं खुली आँखों निहारूँगा उसे, अनिमेष,
X X X X
ये ललौंहे गगन में उभरे अदेखे-
रंग रेखाहीन-चित्र-विचित्र-
अनसुनी यह लय-नए आयाम से फूटी
अजित मन की स्पृहाओं के,
ये अजाने औ, अदेखे सब मुझे प्यारे !
मैं किनारे का रहा गायक
भँवर मझधार के आघात के पर-
स्वर मुझे प्यारे !!
स्वप्न था वह स्वप्न
रीता आह ! बीता !
अग्रगामी, स्वप्न यह भी
अग्रतर से जायगा जीता !
सत्य कहते तुम जिसे, मैं स्वप्न कहता हूँ,
तुम बढ़ो आगे, तुम्हारा वेग,-
तट-सटे पाषाण-सा प्रण ठान सहता हूँ !

अमृत पर्व के अवसर पर महाकवि की दृढ़ आस्था को, अविचलता के अप्रतिम प्रतिमान को नवागतों का नमन! शत-सहस्र नमन!!

रेवतीरमण

प्राध्यापक आवास-48
विश्वविद्यालय परिसर, मुजफ्फरपुर-842001

१ जनवरी २००१

अनुक्रम

मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ : २१
कल्याणी प्रतिभा : २३
माँ श्यामा के चरण : २५
श्वेत शतदल पर : २६
कङ्कण किङ्किण नूपुर बाजे : २७
प्यास तुम्हारी : २८
नींद न आयी : ३०
रूप - निर्झर : ३२
कैसे बन्द रखूँ चल लोचन ? : ३३
तेरी प्रतिमा : ३४
पिजड़े की मैना : ३५
नयन में, प्राण में, तुम हो : ३६
एक रूप की छाया : ३७
मेरे मन का मान : ३८
पहचान सके ना ! : ३९
तुम गाते हो : ४०
रूप चितेरे : ४१
मन न हारे : ४२
मेरी एक कहानी हो ! : ४३
विजन वन का सुमन हूँ मैं : ४४
मेरे पथ में न विराम रहा : ४६
मुझको तो बहते जाना है : ४७
मेरी शिथिल मन्द गति ही क्यों ? : ४८
फटा गगन-पट कौन सिएगा : ४९
चौरस्ते की ज़िन्दगी : ५०
जिन्दगी निचोड़ दी ? : ५१
सौदा : ५२
फूल न हम पतझार के : ५३
मौजों के सिर चढ़कर : ५४

चल रहे साँस के तीक्ष्ण तीर ! : ५६
तुम्हारी याद : ५७
गीत नहीं, मैं गीता गाता ! : ६०
आब सैलाब की : ६१
और कसो तार : ६२
रेत पर जो लिख रहा : ६३
जिन्दगी महज सुगन्ध की तलाश : ६४
फूलो ना,-फूलो ना ! : ६५
बाँसुरी : ६६
गागर भरने की बेला : ६७
वसन्त-पञ्चमी : ६९
रंग भरे स्वर : ७१
गन्ध-वेदना : ७२
प्राण गगन बन छाए ! : ७३
कहे आज कोई : ७४
बजी आज घन में : ७५
चाँद का फूल : ७६
बादल राग : ७८
श्याम परी : ८५
घन पाहुन : ८६
कजरारी बदरिया : ८७
ऊदे बादल : ८८
बादल उलझा : ८९
गदराये बदरा ये : ९१
खिले गुलमुहर : ९२
धूप रक्त करवी की : ९४
धूप-तरी : ९५
रंग लगे अंग : ९६
श्यामा : ९७
घास इतनी है मुलायम : ९८
ताड़ की आड़ से : ९९

.....तो जानूँ : १००
जीना भी एक कला है ! : १०१
पन्द्रह गजलें : १०३
हरिहर क्षेत्र का मेला : ११८
गई काटने गेहूँ अम्मा : १२९
मिट्टी के हाथी घोड़े ! : १३१
कपोत-कपोती : १३२
विधवा : १३३
मुंशी : १३५
पड़ा सूखा काठ ! : १३८
यह बबूल का कटा-कटा-सा पेड़ : १३९
अश्वत्थ : १४०
खामोश आवाज : १४३
उदय के पथ पर : १४५
जीवन-रचना : १४८
विसर्जन : १५०
देश हमारा : १५२
अवन्तिका : १५३
शिप्रा : १५५
चण्डीदास के प्रति : १६०
रवीन्द्र-वन्दना : १६२
कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति : १६४
राष्ट्रपिता : १६७
निराला : १६९
महादेवी महीयसी : १७४
राधा (प्रणय पर्व का आरम्भ) : १७५
कौन मेरे प्राण को पागल किए है ! : १८४

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

(जन्म : माघ, शुक्ल, द्वितीया, सम्वत् १९७३)

साहित्य-सर्जना

काव्य

१. रूप-अरूप २. तीर-तरंग ३. शिप्रा ४. मेघगीत ५. अवन्तिका ६. संगम ७. उत्पलदल ८. आधुनिक कवि (भाग-१४) ९. बाललता १०. धूपतरी ११. श्यामा संगीत १२. सुने कौन नग्मा १३. राधा (सात खण्ड : प्रणय पर्व, पुरुषार्थ पर्व, दर्शन पर्व, विनोद पर्व, निर्वेद पर्व, प्रभास पर्व एवं उत्सर्ग पर्व)

गीति नाट्य

१४. पाषाणी १५. तमसा १६. इरावती

उपन्यास

१७. एक किरण : सौ झाइयां १८. दो तिनकों का घोंसला १९. कालिदास

कहानी

२०. कानन २१. अपर्णा २२. लीला-कमल २३. बाँसों का झुरमुट

कथा-काव्य

२४. गाथा

नाटक

२५. अशोक वन २६. सत्यकाम २७. जिन्दगी २८. आदमी २९. प्रतिध्वनि ३०. देवी ३१. नील-झील

ललित निबन्ध

३२. मन की बात ३३. जो न बिक सकी

संस्मरण-आत्मकथा

३४. स्मृति के वातायन ३५. निराला के पत्र ३६. नाट्य सम्राट: पृथ्वीराज कपूर ३७. हंस बलाका ३८. कर्मक्षेत्रे: मरुक्षेत्रे ३९. एक असाहित्यिक की डायरी ४०. अष्टपदी

समीक्षा

४१. साहित्य-दर्शन ४२. चिन्ताधारा ४३. प्राच्य-साहित्य ४४. त्रयी ४५. महाकवि निराला (सम्पादित) ४६. मानस चिंतन (संपादित)

साहित्यिक पत्रिका, 'राका' का सम्पादन; वर्त्तमान में 'निराला निकेतन पत्रिका बेला' का सम्पादन।

सम्पर्क : **'निराला निकेतन'**, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री पथ
मुजफ्फरपुर (बिहार) - ८४२००१

आचार्य-श्री
की छाया
हम सब की माँ जी को

मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ

मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ,
जग मेरी वाणी कहे, कहे !
पाकर तेरी ही स्वर्ण-किरण
मेरा खग अपना पर तोले,
हो जिधर-जिधर आह्वान,
उधर ही उधर निकट तेरे डोले !
कोई समझे, मत समझे, वह
तो तेरी ही बोली बोले,
बरसाए तेरी सुधा-धार,
जग उसको पानी कहे, कहे !
आँखें सार्थक हों पाकर
तेरी आभा का आभास
मेरा मन निश्चल, एकतान हो
भूल दिशा-आकाश
मेरी तो कला वही, जिसमें
हो तेरा सतत निवास,
मैं गढ़ूँ प्राण-प्रतिमा तेरी,
दुनिया पाषाणी कहे, कहे !
वह सुख न कभी भी मिले मुझे
जिससे दुख ही होता दूना,
जिससे कि भीगतीं आँखें ही,
रहता अन्तर भूना-भूना,
जो सत्य नहीं, वह मिट जाए
मेरा घर रहे, रहे सूना;

हर स्वर-लय तेरा ध्यान,
विश्व मुझको अभिमानी कहे, कहे !
मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ,
जग मेरी वाणी कहे, कहे !!

इस जीवन में जो मधुर-अम्ल,
जो कटु-कषाय, लोना-खारा,
चन्दनी चाँदनी पूनम की,
मावस की नयन-नीर-धारा,
तेरे अलक्ष्य पद-पद्मों पर
कब था न लक्ष्य अपना वारा ?
हो मेरा जीवन यज्ञ,
इसे दुनिया नादानी कहे, कहे!
मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ,
जग मेरी वाणी कहे, कहे !!

❑

कल्याणी प्रतिभा

कल्याणी प्रतिभा हो मेरी,
मधुर वर्ण-विन्यास न केवल !
नित्य सत्य बरसे सुन्दर स्वर,
लय कौशल, अभ्यास न केवल !

दुस्तर तम की छाँव पाँव को
डिगा न दे आलोक-ताप से,
हाथ न काँपे आहुति देते,
चित न विरत हो इष्ट-जाप से !

होम कृपण मन, काम्य कामना,
खींच समूची साँस न केवल !
कल्याणी प्रतिभा हो मेरी,
मधुर वर्ण विन्यास न केवल !!

वीतराग की आग नहीं,
यह धूमाकुल परिवेश पुराना,
तत्त्वनिष्ठ की निष्ठा या
छिदरे छिलकों का बीज छुपाना ?

जीवन मरण अनन्त सन्तरण,
चेतन पुलिन-उजास न केवल !
कल्याणी प्रतिभा हो मेरी,
मधुर वर्ण-विन्यास न केवल !!

तीव्र वासना विपुल ज्ञान की,
करती है प्रज्ञा को कलुषित;
दे न तर्क की स्वर-कर्कशता,
ज्योतिहीन कुछ शब्द-उपल सित;

अनुशंसित नगण्यता मेरी,
गन्ध अन्धविश्वास न केवल !
कल्याणी प्रतिभा हो मेरी,
मधुर वर्ण-विन्यास न केवल !!

अनृत-विजयिनी ही न,
अमृत-जयिनी हो मेरी कला-भारती,
उद्द्योतित करती बहिरन्तर
रहे ज्वलित अनुभूति-आरती,

छिदे बाँस, बाँसुरी बने,
हो साँस गले की फाँस न केवल !
कल्याणी प्रतिभा हो मेरी,
मधुर वर्ण-विन्यास न केवल !!

❑

माँ श्यामा के चरण

माँ श्यामा के चरण अरुण !
एक नयन प्रज्वलित ज्वलन है;
नयन-युगल हैं इन्द्र-वरुण !!

मोह-शमी-सन्दोह-अरणि है
लक्ष्य-क्षितिज की सरल सरणि है
तिमिर तरणि, आकाश-धरणि है
माँ माँ है, क्या क्रूर, करुण !

कुसुमित कल्पलता-तल श्यामल,
शाण-कृपाण-शरण-षड्रिपुदल,
संवित्-सर-भास्वर सहस्रदल
मौन हंस, नूपुर-रुनझुन !

रोष महिष अजगर अज कामी,
नर पशुता का सुत या स्वामी ?
वृद्ध सिद्ध दीमक की बामी,
रक्तहीन अनुरक्त तरुण !

श्रद्धा क्या, चित विस्मृत-चितवन,
तर्क युक्ति उन्मुक्त बुद्धि-धन
गगन अग्नि-वर्षी, जन इन्धन,
रच मन सम-वेदन, सकरुण !

❑

श्वेत शतदल पर

श्वेत शतदल पर सुशोभित
अरुण चरणों में
नील अम्बर हरित धरती-संग
मैं नत हूँ !
वन-पवन-स्वन-गुंजरित, नव पल्लवित,
वल्लरी या सतलड़ी उर-हार ?
स्मित रजत-द्रव, उफन-उवल दशन-पुलिन-
छाप छलकी गगन-गङ्गाधार,
गिरि-शिखर से लहर झरते
अजर झरनों में–
निरख पद-नख -ज्योति चित्रित
मैं निचुलवत् हूँ !
ये दिशाएँ किमाकार उदारतर
या कि फैली हैं भुजाएँ चार ?
अर्थ-काम कि धर्म-मुक्ति ? – विचार कर
दे रहीं सब को उचित उपहार;
ललक कर आऊँ,
गिना जाऊँ अशरणों में,
मैं तुम्हारा स्वगत-निर्मित
गीत स्वागत हूँ !
श्वेत शतदल पर सुशोभित
अरुण चरणों में–
नील अम्बर, हरित धरती-संग
मैं नत हूँ !

❑

कङ्कण, किङ्किणि, नूपुर बाजे

कङ्कण, किङ्किणि, नूपुर बाजे !
मेरे कानों में, प्राणों में-
माँ ने अपने ही सुर साजे !!

हो सन्ध्या या मध्ययामिनी,
नीरवता द्रुत मन्द-गामिनी,
एक तान सुनता रहता मैं,
एक एक सुर उर को माँजे !

हो परिवेश कलह कोलाहल,
अक्षत चन्दन वन अन्तस्तल,
फूटे कल-कल मधुर-गन्ध जल,
माने अहङ्कार, मत माने,
जग जाने, माँ मुझमें राजे !

अब न रहा संसार सुरीला,
सूखी धरती, अम्बर पीला,
कहीं नहीं कुछ गीला-गीला,
नयन टटोले, जन-मन तोले,
मां कितने फूटे दृग आँजे !

❑

प्यास तुम्हारी

प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में ।
प्राण-पतङ्ग प्रथम-मद-माते
मँडलाते कामना-अनल पर
ऊद्‌र्ध्व श्वास से लपट उठाते
बुझ जाते विश्वास अटल कर:
मान-भरा वलिदान व्यर्थ है,
उच्च लक्ष्य का पंथ धँसा-सा
यही सत्य जागरित दिवा का,
यही स्वप्न नित नैश शयन में !
प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में !

अभिव्यक्ति जीवन है जिसकी,
मरण उसी सत्ता की सिकुड़न,
पावस जिसका श्याम वर्ण है,
शरद उसी का उज्ज्वल दर्पण,
जाने कैसे दृष्टि उलझती,
स्पष्ट सृष्टि के ताने-बाने,

चित्रपटी की रेख देख-
पड़ती विचित्र वर-तन्तु-वयन में !
प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में !

व्याप्त किए द्यावा-पृथिवी को
देवि, तुम्हारा सुन्दर मन्दिर,
जिसके वातायन से क्षण-क्षण
छनतीं पवन-तरंगें झिरझिर,
सूर्य्य-चन्द्र दिपते अतन्द्र हैं,
ज्योतिर्मयि, अखण्ड दीपक-से
पूजा-अर्चा की चिर-चर्चा
कुञ्ज-कुञ्ज के कुसुम-चयन में !
प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में !

❑

नींद न आई

नींद न आई दरस लालसा,
आँखें खोल, रहे !
हम अपने तम से न डरे,
तेरी द्युति तोल रहे !!

अब तक किस आशा में अटके,
मिली नहीं भाषा;
खारा पानी पिएँ प्राण,
मानस रस का प्यासा !
अङ्ग उमंग रहे खो,
आत्मा अडिग, अडोल रहे !
मस्तक व्यस्त दिवाकर-से,
मन मस्त निशाकर-से ;
हलचल-सी मच गई,
उलझते गए अचर चर से,
सागर होगा अपने घर का,
हम नभ घोल रहे !
रहे मौन तू जीभ दबाए,
हम तेरी ध्वनि हों,

गाज गिरे झूठे सपनों पर,
सत्य प्रतिध्वनि हों;
गहन शून्य को भर देंगे,
हम हैं कुछ बोल रहे !

ज्ञानी गुनें अज्ञता अपनी,
मधु-मद विज्ञानी,
हमें सिरज कर है तू मां,
जग की जानी-मानी !
हम में तू होगी,
मिट्टी-मिट्टी भूगोल रहे !

❑

रूप-निर्झर

रूप-निर्झर झर रहा है !
मृण्मयी मधु - रस - पगी है,
विहँस गगन-शिखर रहा है !!
उठ रही हैं लोल लहरें लालसी-
दमकती उद्दाम किरणों में बसी,
उर हुआ सुर-सिन्धु-सा है,
बिन्दु-बिन्दु निखर रहा है !
रूप - निर्झर झर रहा है !!
नाम-हीन सहस्र नामों में खिला,
अलख, अनमिल त्रिपुर-सुन्दर में मिला,
उच्छ्वसित होती उदासी,
अश्रु ? हास बिखर रहा है !
रूप - निर्झर झर रहा है !!

❑

कैसे बन्द रखूँ चल लोचन ?

कैसे बन्द रखूँ चल लोचन,
प्रिय अति सुन्दर हे !
कैसे विकल कलश में भर लूँ
सकल समुंदर हे !
जान विजन क्षण आता,
सजल नयन, सखि, निरख न पाती,
तब तक निर्दय जाता !!
मर्मर कर उठते तरु-पल्लव
सुन उसका रव हे !
बदल-बदल वह रूप-रंग
चलता नित नव-नव हे !
चरण-चाप पहचानी,
इसीलिए उसकी, अब तक की,
गति स्वागति री जानी !!
कह, कैसे अपना घर भर लूँ,
वह सब का धन हे !
कैसे रोक रखूँ, जब सब का
वह निज जीवन हे !
देता रहता फेरी,
कहाँ-कहाँ किस-किसने उसकी
राह आह भर हेरी !!

❑

तेरी प्रतिमा

तेरी प्रतिमा है जान-भरी, है प्राण-भरी !
सखि, बड़ी-बड़ी काली पाँखोंवाली वे
आँखें हैं लघु-लघु मान-भरी, अभिमान-भरी!

कारीगरी भरी है कितनी इतने में
ऐसा सुडौलपन मिलता है कितने में
मुखड़ा टुकड़ा-सा शरत्पूर्णिमा-विधु का
कोंपल-सा सुन्दर अधर हास-सा मधु का

वह पृष्ठ, बाहुओं पर फैला इतराता
टुक उलझ-सुलझ वक्ष स्थल पर लहराता
तेरा चिर-कुञ्चित केश-कलाप सुकोमल
ज्यों नग्न कनक कुच पर आँचल घन श्यामल
वह अंग-रंग से मिली रेशमी सारी
मलयानिल में लहराती केसर क्यारी

सखि, मधु-घोली वह तेरी भोली बोली
कितनी मीठी मुस्कान-भरी, लय-तान-भरी!
तेरी प्रतिमा है ज्ञान-भरी, जय-गान-भरी !

❑

पिंजड़े की मैना

सोने के पिँजड़े की मैना
बोल रही है देसिल बैना !
चन्दन तन पर रण की भूषा
शशि-मुख पर प्रद्योतित पूषा
आशु नाश अशुभों का करती
तमस्तोम का जैसे ऊषा
आग भरे हैं तेरे नैना !
सोने के पिंजड़े की मैना !!

आर्त हो समस्त जन अकिञ्चन
कृपा माँगते त्रिदोष-भञ्जन
आयु-वायु बह रही विजन में
गर्व खर्व, कम्पित तन उन्मन,
हंसा का कटा हुआ डैना !
सोने के पिंजड़े की मैना !!

❑

नयन में, प्राण में, तुम हो

नयन में, प्राण में, तुम हो,
गगन में, गान में, तुम हो !
न इतना भी रहा अन्तर
कि मैं हूँ या तुम्हीं तुम हो !!
सितारों को बताऊँ क्या
पता ? बेजार तारों को ?
न आहत-उर अरे, मैं हूँ,
अनाहत-सुर तुम्हीं तुम हो !
घुमड़ते बादलों के इन
उमड़ते आँसुओं से मैं–
नहीं बिखरा रहा मोती,
निखरते बस तुम्हीं तुम हो !
शमा हूँ या कि परवाना
जलन हूँ ज्योति या जगमग,
कहूँ क्या हाय ! मैं क्या हूँ,
समझता हूँ तुम्हीं तुम हो !

❑

एक रूप की छाया

रूप - रूप में फिर - फिर देखी
एक रूप की ही छाया !
षड्रस हो या नव रस - सब में
अरे, स्वरस की ही माया !
सूरज, चाँद, सितारे देखे,
देखी जोत अगिन की भी,
एक तेज ही सबमें दिखता;
धरे हुए लघु - गुरु काया !
चरण विराट पुरुष के भू पर,
ऊपर नभ में सिर सजता,
सप्त सिन्धुओं ने शत स्वर में
युग - युग से औ' क्या गाया ?
देश-देश - व्यापी प्रकाश वह,
काल - काल का वह स्वामी,
तू मतिमंद बंद मन्दिर में,
क्यों उसकी न शरण आया ?

❑

मेरे मन का मान

मेरे मन का मान तुम्हारे प्राणों का प्रिय गान बन गया !
जीवन का अवसाद : किसी की
याद नहीं मेरा बल, सम्बल;
जीवन का उन्माद कि पथ पर
रोक न पाया मृगमद-परिमल,
अब हठ ठान रहे तुम : पहले
मैं अपनी मंजिल पहचानूँ,
मेरा मुखर प्रवाह तुम्हारे लिए पुलिन सुनसान बन गया !
मेरे मन का मान तुम्हारे प्राणों का प्रिय गान बन गया !!
जीवन का तम : समतल पर
मेरे निर्मल पग लगते काले;
जीवन का आलोक कि सूरज-
चाँद-सितारे गगन उजालें !
नई रोशनी दिखलाते तुम,-
जिसमें मैं परखूँ परछांई,
मेरा विरस विमर्श तुम्हारे लिए सरस आख्यान बन गया !
मेरे मन का मान तुम्हारे प्राणों का प्रिय गान बन गया !!
जीवन का दुख : राजमार्ग पर
मैंने नहीं फूल बिखराए,
जीवन का सुख : स्वयं के लिए
शूलों के शृङ्गार सजाए !
मेरी मुक्ति बँधी बन्धन से,
तुम द्वन्द्वों के बीच विहँसते,
यह सन्ध्या का मौन तुम्हारे लिए प्रात-आह्वान बन गया !
मेरे मन का मान तुम्हारे प्राणों का प्रिय गान बन गया !!

❑

पहचान सके ना !

बहुत पास मैं रहा तुम्हारे
इसीलिए पहचान सके ना !
बहुत प्रमाण दिए ममता के
इसीलिए तुम मान सके ना !
चलता मेरा अकपट रटना,
नित शत-शत घटना पर घटना,
कौन मर्म की रही कहानी,
इसीलिए तुम जान सके ना !
समझ-समझ कर आत्म-अधीना
बहुत सजाई अपनी वीणा,
निर्मम ! तुम्हें मोहनेवाले
इसीलिए बज गान सके ना !
खोल रखे सब द्वार निरन्तर,
जगा रहा प्रतिपल चल अन्तर,
लाने की हठ की, मेरे घर
इसीलिए प्रिय, आ न सके, ना ?

❑

तुम गाते हो

पार गगन के तुम गाते हो !
अर्थ-डँसे स्वर बरसाते हो !

फिर-फिर भर-भर आती गागर
एक अश्रुकण बनता सागर !
डूब-डूब जाता तट का तन,
जीवन पर यों छा जाते हो !

छाँह घनी बादल-घाटी की,
गदराई काया माटी की !
अम्बर-ओट गूंथ बूंदों की-
सतलड़ियां, तुम पहनाते हो !

चीड़-चढ़ा या सरपत लटका
पिक-चातक का स्वर कब भटका ?
पाषाणों में प्राण जमा कर
फिर प्राणों को पिघलाते हो !

तान तुम्हारी मीठी, तीखी,
नवयौवन में मरण-सरीखी !
पीले कुहरे-सी सुधियों को-
धुआं-धुआं कर सुलगाते हो !

लहर-लहर की आपाधापी,
कर्दम-सनी अतलता मापी !
एक शून्य संकेत अचेतन,
तुम असीम में क्या पाते हो ?

❑

३०.९.१९६१

रूप - चितेरे

रूप - चितेरे, रूप- चितेरे !
आँक रहे क्या साँझ-सबेरे ?
नील गगन, स्वच्छन्द पवन को ?
मेघ-पिञ्जरित प्रथम किरण को ?
चन्द्रातप या तिमिर मलिन को ?
रूप गढ़े किसके, किसके रे ?
रूप-चितेरे, रूप-चितेरे !!
सुरभि छिपी सुकुमार सुमन में,
जीवन की छवि उन्मन मन में,
सरल कामना भाव गहन में,
नाद-वर्ण में अनुभव मेरे !
रूप - चितेरे, रूप-चितेरे !!
किसका रंग कि किसकी रेखा ?
प्राण छोड़ कर तन का लेखा !
मैंने ऐसा चित्र न देखा,
हों जिसमें स्वर सप्त बिखेरे !
रूप- चितेरे, रूप - चितेरे !!

❑

मन न हारे

(१)

दु:ख यदि इतने दिए, दो शक्ति : मेरा मन न हारे !
पालने पौढ़ा मुझे माँ ने न हलराया, झुलाया ;
धूलि-धूसर रह निरन्तर मलिन अन्तर, कठिन काया ;
बाल्य से वात्सल्य का अनुभव किया न कभी, पढ़ा ही,
प्यार इस संसार में पाया नहीं, मन में गढ़ा ही,
कल्पनाओं में हँसा, जीवन जला घन नयन-जल से,
और क्या संघर्ष ? टकराई उमंग न कब अचल से ?
सिन्धु की मझधार में मधु-धार बरसाओ, मुझे क्या ?
किन्तु अन्तर्देव, कर फैला खड़ा आगे तुम्हारे :
दु:ख कितने भी मुझे दो, ठान कर प्रण मन न हारे !

(२)

आँख खोली मुँह अँधेरे, दृष्टि जोड़ी जिस दिशा से,
तिमिर-कारागार-सी थी बन्द पाषाणी निशा से;
वायु अम्बर में कि आग लगा तमाशा देखती थी,
स्तब्धता की भङ्गिमाएँ विकलता में लेखती थी,
पेड़, झाड़, पहाड़ पर छाई हुई लतरें कँटीली,
आग शिखरों पर सुलगती, घाटियों में गन्ध गीली !
बुद्धि हर्ष-विषाद के आघात से हो वक्र, वामन;
सरल जीवन से अकारण ठान कर रण मरण हारे !
दु:ख कितने भी मुझे दो, ठान कर प्रण मन न हारे !!

(३)

अलग-थलग सभी सुरों से टेर मेरी अनसुनी-सी,
मत्त प्राणों की उमंगें तप्त सिकता में चुनी-सी;
गूँथना हूँ चाहता निर्जन नयन के जलकणों को, -
सत्य पर छाए हुए मधु-स्वप्न के स्वर्णिम क्षणों को,
टूटते नक्षत्र, मिट्टी का खिलौना यह बचेगा ?
अगम तम के गहन पटपर यह प्रकाश अमर रचेगा ?
क्या नया संकेत ? क्या संदेश देगा विश्व को यह:
तलहटी तलवार की हो, बाँसुरी का स्वन न हारे !
वेणु-वन संघर्ष में जल जाय, नि:स्वन घन न हारे !!

❑

मेरी एक कहानी हो !

यह पीर पुरानी हो !
जब, मैं न रहूँ तब जग में
मेरी एक कहानी हो !

मैं चलता चलूँ निरन्तर
अन्तर में विश्वास भरे
इन सूखी-सूखी आँखों में
तेरी ही प्यास भरे
मत पहुँचूँ तुझ तक, पथ में
मेरी चरण-निशानी हो !

दूँ लगा आग अपने हाथों
मिट्टी का गेह जले
पल भर तेरे प्रदीप में
अपना भी तो स्नेह जले
जल जाए मेरा सत्य,
अमर मेरी नादानी हो !

वह कर्म न कोई करूँ
न हो जिससे तेरी अर्चा
वह बात न कोई सुनूँ,
न हो जिसमें तेरी चर्चा
जग उँगली उठा कहे -
कोई ऐसा अभिमानी हो !

❑

विजन वन का सुमन हूँ मैं

विजन वन का सुमन हूँ मैं सुरभि अपनी सँजोए !
भ्रमर के गान से अनजान प्राणों को भिंगोए !!
रहूँ रोता ? अरे, मेरे रुदन का अर्थ ही क्या ?
विवश मुसकान-मुद्रा सर्वथा है व्यर्थ ही क्या !
रहूँ गाता ? समझता कौन मेरा मौन सर्जन !
न मेरे नाद में बादल, न विद्युत, वज्र-गर्जन !
कि पारावार- सा होता न हाहाकार मेरा,
न दुर्जय ज्वार - सा उद्दाम, उन्मद प्यार मेरा !
सजल कैसी अतलता में हृदय - घट हूँ डुबोए !
विजन वन का सुमन हूँ मैं सुरभि अपनी सँजोए !!

X X X X

सिसकती गन्ध रन्ध्रों में : पवन निस्पन्द क्यों है ?
मदिर मकरन्द घुलता : मन्द प्रति दल बन्द क्यों है ?
समझता हूँ कि वन-उपवन रहे हैं झीम क्यों कर !
कि मुरझाए कुसुम कितने प्रथम आमोद खो कर !
-मुकुल मसले गए कैसे अबल-दल डंठलों पर !
-गए झर या उड़े नभ के प्रलय भरते परों पर !
उमंगों को रहा दुलरा : न कोई रंग खोए !
विजन वन का सुमन हूँ मैं सुरभि अपनी सँजोए !!
किसी का रूप दीपक, शत शलभ- दल खींच लाए ;
किसी का सुख इसी में, मुख किसी वन में छिपाए !
हलाहल की किसी के, हो रही सब ठौर अर्चा,
किसी की है सुधा की भी कहीं चलती कि चर्चा ?
नियति की गति निराली है ; प्रकृति का ढंग अपना,
किसी का सत्य निर्मम भी किसी का नर्म सपना !
कहेगा कौन पिक गाए न ; चातक यों न रोए !
विजन वन का सुमन हूँ मैं सुरभि अपनी सँजोए !!

X X X X

इकाई की मुझे चिन्ता, --पटे खांई कहीं की,
कि जीते 'हाँ', सुनिश्चित हार हो जाए 'नहीं' की !
समन्विति द्वन्द्व की, संगति अपेक्षित दु:ख - सुख की-
न हो मन - प्राण में जब तक, खुले लाली न मुख की !
विषम समवेदनाओं की न कोई तान तोड़े,-
चढ़ाने जो कहूँ सिर, झट झपट गरदन मरोड़े !
लगाने जो कहूँ उर से, सुई कोई चुभोए !
विजन वन का सुमन हूँ मैं, सुरभि अपनी सँजोए !!

❑ १९४५

मेरे पथ में न विराम रहा

मेरे पथ में न विराम रहा !
'कुछ दूर और, कुछ दूर और' करता मैं आठों याम रहा !
पर्वत की चोटी पर बैठी चिड़िया बोली- हाँ, चढ़ो-चढ़ो;
सागर की लहर पुकार उठी, -'लौटो मत, आगे बढ़ो, बढ़ो !'
मैं चढ़ा किया, मैं बढ़ा किया, हारा हिम्मत न रुका पलभर,
यह शिखर दिखा, वह महासिन्धु, कहना ही मेरा काम रहा !
मेरे पथ में न विराम रहा !!

जब नजर शिखर पर रही गड़ी, पर्वत से गिरना शान एक,
जब लक्ष्य किनारा पाना ही, लहरों पर मरना आन एक !
सोचा करता मैं यही, मगर अन्तर मर्मर करता रह-रह,
आनेवाले जग में मेरा जाने क्या कैसा नाम रहा !
मेरे पथ में न विराम रहा !!

❑

मुझको तो बहते जाना है ।

सिन्धु मिलन की चाह नहीं कुछ
मुझको तो बहते जाना है ।

दो पुलिनों से बँधकर भी
कितनी स्वतन्त्र है जीवन-धारा
रोक रखेगी मुझको कब तक
पत्थर चट्टानों की कारा
अपनी तुङ्ग तरङ्गों का ही
रहता इतना बड़ा भरोसा
लौट-लौट कर नहीं देखता
मुझको तो बहते जाना है!

राह बना कर बढ़ना पड़ता,
इसीलिए रुक-रुक चलता हूँ
झुकना तो मेरा स्वभाव, हाँ,
कुछ चट्टानों को खलता हूँ;
आसपास में औरों के
मेरी भी एक धार लहराए,
यह विचारने की कब फुर्सत ?
मुझको तो बहते जाना है !

❑

रायगढ़, ८.८.३८

मेरी शिथिल, मन्द गति ही क्यों !

मेरी शिथिल, मन्द गति ही क्यों,
गिरि, वन, सिन्धु-धार भी देखो !
पीले पत्तों में, वसन्त के लाल प्रवालों का दल सोता,
काले, जड़ पाषाणों में रहता उज्ज्वल जीवन का सोता;
आँखों का खारा जल ही क्यों,
उर का मधुर प्यार भी देखो !
बरसा कर अपना सारा रस, निःस्व हो गई नीरद-माला,
वन-वन रँग, रुचि, मधु, सौरभ भर
कलियों ने खुद को खो डाला;
ऊपर सूनी डाली ही क्यों,
नीचे हरसिंगार भी देखो !
नभ के शून्य नयन भर आएँ तो अवनी का ताप भला रे,
शीतल हो जो हृदय किसी का तो कोई ले मुझे जला रे,
सोने का तपना ही क्यों,
तुम अपना कण्ठहार भी देखो !

❑

फटा गगन - पट कौन सिएगा ?

फटा गगन - पट कौन सिएगा ?
बिषय - सिन्धु में डूब रहा जो,
वह अगस्त्य - सम उसे पिएगा ?

रज की रस्सी बटते - बटते -
जीवन के दिन जाते घटते,
कोई मन के कुंजरवर को -
इस बिध बाँधे, क्या कहिएगा ?
रवि - किरणों से प्यास बुझा कर
ज्योत्स्ना मथ, माखन बिलगा कर
काल फणी से छीन प्राणमणि,
कोई कैसे अभय जिएगा ?

❑

चौरस्ते की जिन्दगी

मैली-मैली चांदनी,
चन्दा मुखड़ा फीका,
ऐसा काजल फैला
जैसे हो कलंक-टीका !

आंसुओं-टंगे सपने
तोरण उजड़े नीड़ के,
झेल अकेलापन
मन ठिठका सम्मुख भीड़ के;
छुट्टे हाथ, कहां, पर, इससे–
छुटकारा जी का ?
दिल पर पड़ती चोट,
ठनकता माथा मिट्टी का !
मैली-मैली चांदनी,
चन्दा मुखड़ा फीका,
ऐसा काजल फैला
जैसे हो कलंक टीका !

चौरस्ते की जिंदगी
कुछ धूल, पसीने की,
साधों की सुध
सांसों में जकड़न-सी सीने की,
फूल भटकटैया का,
पात कँटीली डाली का–
ज्यों मसान में मग़न,
नहीं हमसाया माली का !
मैली-मैली चांदनी
चन्दा-मुखड़ा फीका,
ऐसा काजल फैला
जैसे हो कलंक-टीका !

❑

जिन्दगी निचोड़ दी ?

जिन्दगी निचोड़ दी अछोर के लिए ?
तिमिर-गरल पिया अमृत-भोर के लिए ?

फूलों की हंसी उड़ा कांटों को कोसा !
होंठों में संवेदन-गन्ध भींच -
तितली-पलकों में कुछ बहके स्पर्शों को खोंसा
सांसों की लहक पिघल -
बनी किरन-कनी विकल ?
मचल उठी मुक्ति नील डोर के लिए ?
तिमिर गरल पिया अमृत-भोर के लिए ?

X X X

खेल कहां था जीवन धूप-छांव का ?
कोहरे की धुन्ध, धुआँ नगर-गांव का ?
घायल लहरों का
भंवरों-जैसा गुम्फन ?
सस्ता-सा सादा ?
अनचाहा-सा ताजा ?
चढ़ आए पानी की रेती -सी उतरन ?
दहक उठा-सा तनहा ?
महक उठा-सा लमहा ?
पथरीला पंथ थकन-बिंधे पांव का ?
खेल कहां था जीवन धूप-छाँव का ?

❑

६.११.१९६६

सौदा

घाटे का सौदा किया
घूमकर हाटों में,
अटपटा लगा : अट गए
संघाती बाटों में ।

बटमारों के मारे नाकों दम था पहले
सस्ते सौदे, रस्ते भर नहले से दहले ।
मरभुखे कहीं
सस्ते-मंहगे के सौदाई ?
मस्ती की बात, पिसें मंहगे
दो पाटों में ।

मिट्टी नाखूनों से खुरची, पानी न बचा,
पग से जमीन खिसकी, न गगन को मन ललचा ।
रोजी-रोटी के लिए
करूं खोटा धन्धा ?
पूंजी थी कहां ?
गई चुक बन्दरबांटों में!

थी साध साधना से न बड़ी मेरी कोई
उतना ही होंठ हँसे, जितना आंखें रोई।
अन्धेर हो न हो,
देर हुई, हक खो बैठा,
व्यवहार ज्वार,
आदर्श भटकता भाटों में !

❑

फूल न हम पतझार के

झुके वृन्त पर नहीं खिले,
पवन-इशारे नहीं हिले;
रंग-गंध से दिपे दीप बन-
मौसम के शृंङ्गार के !
फूल न हम पतझार के !

अपनी नैया खे निकले,
लहर ?-पेंग भरते निकले,
चक्कर में सब : राह रोकते
क्यों न भँवर मझधार के ?
फूल न हम पतझार के !!

हर सुख में दुख साथ रहा,
लिए हाथ में हाथ रहा,
दुर्दिन के पल-छिन गुजरे-
दिन ज्यों कि तीज-त्योहार के !
फूल न हम पतझार के !

लड़े अंधेरों से हरदम,
एक न दूजे से था कम,
किरण-रँगे हौसले सहमते-
क्या नीहार निहार के ?
फूल न हम पतझार के !

❑

मौजों के सर चढ़कर

पार नहीं, मझधार नहीं,
झकझोर रही पुरवैया,
जैसे कूल-किनारा छूटा,
लगी डूबने नैया !

कितने मनसूबे बांधे थे !
कैसे-कैसे सुर साधे थे !
पूरे, सारे अर्थ भरे थे,
शब्द भले आधे-आधे थे !
चुन-चुन किरन तुहिन-वन भूली
कैसे सोनचिरैया !
पार नहीं, मझधार नहीं,
झकझोर रही पुरवैया ।

अपनी छांह खड़े पेड़ों की
तसवीरें उभरी हैं,
और नहीं तो क्या बस यूं ही
आंखें भरी-भरी हैं !

वह न बहे, उनके कानों ने–
सुनी नहीं 'हो-हैया !'
पार नहीं, मझधार नहीं ।
झकझोर रही पुरवैया ।

डूब गए जलयान हजारों
कश्ती की क्या हस्ती ?
फिर भी मौजों के सर चढ़कर
हंसती मेरी मस्ती:
मैंने अपने हाथों खेई,
मेरा न था खिवैया !
पार नही मझधार नहीं ।
झकझोर रही पुरवैया।

❑

चल रहे साँस के तीक्ष्ण तीर !

चल रहे साँस के तीक्ष्ण तीर!
सोचता काल कब: बालक का है-
विमल कमल-कोमल शरीर !
कितना पुनीत वह था अतीत,
छलकर जो चलता बना, ओह!
कितना नीरस यह वर्त्तमान,
कितना भविष्य का मधुर मोह!!
कह कर जाती क्या कानों में-
कलिका के, पतझर की समीर ?
तपती जो भूमि 'तवा' सी है-
तपने दो, मन नभ-वासी है;
तनु-तन भी यदि टूटी कुटीर,
रहने दो, प्राण प्रवासी है।
हो उषा-उदय, ढलने को तो-
नक्षत्र कभी से है अधीर !
चल रहे साँस के तीक्ष्ण तीर!

❑

तुम्हारी याद

आज इस नीरव दिशा में
मालती की सुरभि-सी आई तुम्हारी याद !
गुदगुदाती इस हवा - सी
पुलक-पंखड़ियाँ जगाती सखि, तुम्हारी याद !!

जब प्रथम हम थे मिले,
परस-रस सम-भाव से था व्याप्त होता
अङ्ग - अङ्ग तरङ्ग में !
अकारण फिर-फिर समीरण
छेड़ता झिर-झिर तुम्हारे असाधारण
गन्ध-केश-प्रसार को
जो था छहरता लहरते उन्नत हृदय पर,
स्वर्ण - हीरक - हार - प्रिय शृङ्गार पर,
भर - भर अपार उमंग में !
नयन नर्गिस - से खिले
झलक किसकी देखते निर्मल पलक में,
झिलमिलाती पुतलियों में,
चाँद का मधु पी रही कर बन्द पाँखें -
मधुकरी-सी गन्ध से निस्पन्द आँखों में ।
देखता जब मैं तुम्हारी कान्ति,
शान्ति-पूर्ण विभूति यौवन की कि जैसे -
रज रतन - गजमोतियों की
चन्द्र - चुम्बक स्फटिक सौध कनक कलश को-
कर रही वलयित स्फुरित परमाणुओं से !
या कि अभ्रक - चूर्ण कुङ्कुम के मिलित कण --

स्वर्ण - पिङ्ग पराग - से अनुराग के क्षण
उड़ रहे पाटल-पटल उर कण्टकित से,

कमल कोमल प्राण से,
अनजान युग-युग तक बिछड़ अणु
उमड़ कर हों जुड़े रहे !
अमृतवल्ली मल्लिका मकरन्द,
कमल-सम्पुट अर्घ्य सौरभ से समद आवेश,
प्रज्वलित प्राण-प्रदीप की नीराजना--
वह ज्वाल-माल स्फुलिङ्ग-मङ्गल वेश !

धूप सन्ध्या की,
तिमिर मधु दोपहर का,
विजनता तारों-भरे आकाश की,
आवर्त मरु-सैकत प्रतप्त तुषार का,
दुर्वार आकाङ्क्षा, प्रबल उत्साह के स्वर-व्यञ्जनों का मौन,
अनुभूति के दृढ़ चाप से निस्पन्द सिञ्जित मत्त छन्द--
प्रकाश के उल्लास का,
सब समर्पित कर, विसर्जित कर स्वयं को,
नि:स्व होकर विश्व में ऐश्वर्य्य भरने की
प्रतीक्षित कामनाएँ थीं किलकती !
X X X

तुम मिलीं जैसे तने से टहनियां !
पल्लव नवल सुकुमार, स्तबक-उभार,
सौरभ- सार से लचती, लजीली टहनियाँ !
तब थपथपाया :-
मैंने मलय का पवन बन
उन्मन, तुम्हारा मन, तुम्हारा तन मृणाल जलार्द्र-सा,
त्यों उतर धूमिल भूमि पर --
(कुन्तल सघन घन फैल कर जिसको बनाते-से गगन थे !)
हृदय को मानो बना मस्तिष्क,
भावना को शुद्ध बुद्धि सचेत,

अचल चरणों पर रखा सिर,
स्वेद - ललित ललाट, चपल पलकें
तृप्ति - सस्मित अधर,
वर्ण - वर्ण गला हुआ ज्यों स्वर्ण,
– बन रहा उन्मद हृदय का तार हार भले-भले,
फँसता गला, स्वर कांपता - सा बिखरता --
अविराम विरच विराम !
बोलीं तुम
कि जैसे पद्म - कलिका खोलती हो रंग ? पर,
हो घोलती परिमल - मरन्द - पराग - केसर -
.....प्यार, प्रथम, प्रगल्भ !
फिर जैसे सँवर कर --
नमस्कार .... ! प्रणाम !!

X X

आज हास-रुदन-हिंडोले झूलता जीवन हमारा,
तुम किनारा, मैं किनारा,
बह रहा जीवन हमारा छलक दोनों ओर !
शिशिर - सन्ध्या में खड़ी खिड़की - सहारे
सींखचों के पार गिनतीं अगिन तारे !
औ' वसन्त-प्रभात में जलजात-सुन्दर,
भर किरण-कण प्राण में नीहार-लिपटे,
नयन नत निस्ताप, शबनम सहम गोए,
गौर-गौरव नील नभ-प्रासाद पर वन --
पवन का झोंका उड़ा लाया अरे क्या ? चौंक जातीं ;
इधर मेरे मान-सर की हर लहर से
तैर कर स्वर
सिसकियों में फूट पड़ते हैं तुम्हारे :
''प्यारे, जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण - पंख तरुण किरण खड़ी खोल रही द्वार !''

❑

१९४७

गीत नहीं, मैं गीता गाता !

गीत नहीं, मैं गीता गाता !
दुर्बल मन अर्जुन जब साहस
का गाण्डीव फेंक पछताता !
मैं कहता , यदि कसी कमर है,
डर क्या, यह संसार समर है !
जूझो, आत्मा अजर-अमर है,
ज्ञान-कर्म का महामिलन ही
है मञ्जुल, मङ्गल फल लाता !
गीत नहीं, मैं गीता गाता !
प्रकृति इन्द्रियों की बहिरुन्मुख
जीव जभी अनुभव करता दुख;
प्रथम इन्हें कर लो अन्तर्मुख,
शाश्वत सुख का तुङ्ग शृङ्ग यह
जो चेतन अमृतत्व दिखाता !
गीत नहीं, मैं गीता गाता !
बँधता मन अभ्यास-पाश से
ज्यों घन-गर्जन तड़ित-हास से;
मधु-स्वन सुमनों के सुवास से;
इस बन्धन के गहन गगन से
मुक्ति-मर्म निर्मल छन आता !
गीत नहीं, मैं गीता गाता !

❑

आब सैलाब की

वन हरिआया, मन पियराया !
दूर बहा जीवन जन-गण का ,
प्लावन-वरण मरण नियराया !

झड़े झोंपड़े पीत पात-से;
फूले सौध प्रभात-वात से -
उद्भासित नव नीर-जात से;
वरुण तरुण-तन में लहराया !

जड़ता में आकर्षण कितना,
बिजली कौंध रही क्यों इतना !
शव पर सौ झर, या फिर जितना-
जी चाहे, घिर घन घहराया !

भान न होता दिशाकाश का,
अन्धकार साकार नाश-सा,
उदय-अस्त कैसा प्रकाश का-
सीधा दिपा, कभी चकराया !

आकालिक चेतना धड़कती,
भूखी ध्वनि चढ़ गगन कड़कती
छाती की अस्थियां तड़कतीं,
सोये जग में क्या युग आया !

❑

और कसो तार

और कसो तार, तार सप्तक में गाऊं !

ऐसी ठोकर दो मिजराब की अदा से
गूंज उठे सन्नाटा सुरों की सदा से
ठंडे सांचों में मैं ज्वाल ढाल पाऊं !
और कसो तार, तार सप्तक में गाऊं !

खूंटियां न तड़कें जब मीड़ों में ऐंठूं,
मंजिल नियराए, जब पांव तोड़ बैठूं,
मुंदी-मुंदी रातों को धूप में उगाऊं !
और कसो तार, तार सप्तक में गाऊं !

नभ बाहर-भीतर के द्वन्द्वों का मारा,
चिपकाए शनि चेहरे पर मंगल तारा !
क्या बरसा ? परती धरती निहार आऊं !
और कसो तार, तार सप्तक में गाऊं !

ढीले सम्बन्धों को आपस में कस दूं,
सूखे तर्कों को मैं श्रद्धा का रस दूं ?
पथरीले पंथों पर दूब मैं उगाऊं !
और कसो तार, तार सप्तक में गाऊं !

❑

रेत पर जो लिख रहा मैं

रेत पर जो लिख रहा मैं
धार उसको मेट देगी !
फिर किनारे पर खड़ी दुनिया,
कहो तो, क्या कहेगी ?

झुक गया भ्रम में न फूला,
रुक गया, पर पथ न भूला,

यह कहानी जो बही, मेरी निशानी क्या रहेगी ?
धार पर आंखें गड़ा, दुनिया, कहो, फिर क्या कहेगी ?

सजल बादल बन न पाया,
मैं गगन से छन न पाया,

अश्रु : फुहियों के लिए क्या भूमि लू-लपटें सहेगी ?
बाद बादल के जली बिजली कड़क कर क्या कहेगी !

दर्द यह चुप लिख रहा मैं,
गर्द में क्या दिख रहा मैं !

यह कसक बन गान तेरे प्राण में लुक-छुप रहेगी ?
मैं सुनूँगा ही नहीं फिर, दूर-दुनिया क्या कहेगी !

❑

जिन्दगी महज सुगन्ध की तलाश

और तपी धूप, और फूल खिले !

और ताप-त्रास, हास और सरल,
और धूल, और सजल नयन तरल,
और प्यास, और अमृत और गरल,
और दूर, और पास सांस मिले !

अलग-अलग सुलग रहे वनपलाश
अलग-अलग आग पिए अमलतास !
जिन्दगी महज सुगन्ध की तलाश,
सिर्फ एक टेक : प्राण-शिला हिले !

❑

२६.३.१९७०

फूलो ना, फूलो ना !

मुकुल-मुख ! फूलो ना, फूलो ना !
देखी रेख ; सुनी धुनि पग की,
भूलो ना, भूलो ना !
छुटपन के छोटे छिन रीते
आँखमिचौनी के दिन बीते
परछांई-सी पास खड़ी मैं
छू लो ना, छू लो ना !
रिमझिम फुहियाँ लोचन-घन की
जीवन में बहार सावन की ;
प्यार चपल उर के झूले पर
झूलो ना, झूलो ना !

❑

बाँसुरी

किसने बाँसुरी बजाई ?
जनम-जनम की पहचानी-
वह तान कहाँ से आई ?
अङ्ग-अङ्ग फूले कदम्ब-सम
साँस-झकोरे झूले,
सूखी आँखों में यमुना की-
लोल लहर लहराई !

किसने बाँसुरी बजाई ?
जटिल कर्म-पथ पर थर-थर-थर
काँप लगे रुकने पग,
कूक सुना सोए-सोए-से
हिय में हूक जगाई !

किसने बाँसुरी बजाई ?
मसक- मसक रहता मर्म-स्थल,
मर्मर करते प्राण,
कैसे इतनी कठिन रागिनी
कोमल सुर में गाई !

किसने बाँसुरी बजाई ?
उतर गगन से एक बार-
फिर पीकर विष का प्याला,
निर्मोही मोहन से रूठी
मीराँ मृदु मुसकाई !
किसने बाँसुरी बजाई ?

❑

१९४१

गागर भरने की बेला

गागर भरने की बेला
हौले बीती जाती है !
क्यों भूल-चूक हो जाती
चिर-परिचित व्यापारों में,
दिन-दिन भर उलझी रहती
सब दिन इन घर-द्वारों में,

वैसे तो दुपहर ही से
उत्सुकता उकसाती है,
लगता, गागर भरने की
बेला बीती जाती है !

औरों की देखादेखी
जब-तब रहती अलसाती,
सौरभ-भीनी स्मृतियों की
धारा में बहती जाती

सहसा रागिनी रँगीली
थमती, झटका खाती है;
लगता, गागर भरने की
बेला बीती जाती है !

ज्यों-ज्यों दिन ढलता जाता,
औ' सन्ध्या घिरती आती,
त्यों-त्यों पनघट पर कैसी
है बदाबदी मच जाती,

जल्दी-जल्दी में गागर
गागर से टकराती है,
रीती गागर कहती : लो,
बेला बीती जाती है !

हो गई देर, हो; अपनी-
गागर भरनी ही होगी;
मरघट-पनघट की दूरी
पूरी करनी ही होगी !

उज्ज्वल जल की कल-कल धुन-
सुन मति-गति मद-माती है;
रीती गागर भरने की
बेला बीती जाती है !

❑

वसन्त-पञ्चमी

रंग गहरा है धुआँ का;
लाल-लाल मशाल-
की लपट पर लौ-लपट उठती
धुएँ के पार !
बेशुमार खिले हुए हैं फूल:
झीने झुरमुटों में चमकती आँखें किसी की !
पर इधर बाड़े कँटीले से टिके तुम
चुभन गहरी झेलते, सीत्कार करते हो !

X X X

तीन दिन आगे अगर होता,
वसन्त- बहार होता !
किन्हीं घुँघराली लटों में
गुँथा, खिलता - सा कुसुम - शृङ्गार होता !
निठल्ली लेटी अमीर वियोगिनी की
स्वर्ण पीठ निखारता अंगार होता !
ठेल - धकिया कर निरीहों, कर्मठों को,
धूर्तता पुजती बनी प्रतिमान - प्रतिमा -
सत्य - शिव सुन्दर-मुखी, लोकालयों में,
लगन अपने आप में जिनकी मगन,
होता नहीं एहसास जग-उपहास कीर्ति-प्रशस्ति का
मैं उन्हीं रामानुगा रावण-बहन जी के
गले का हार होता !
हाय रे, मैं तो मगर पतझार का
संस्कार लेकर आ गया पहले !
यह निराशा, यह अतृप्ति,
घुटन, जलन, - सब
पलायन-संस्कार हैं पतझार के ही तो !!

X X X

तीन दिन बीते; वसन्त
अनन्त सौरभ भर रहा
रसिकायतन-से सजे राजोद्यान में,
(है चिता -सी जल रही पतझर अचेतन की,
फैलती दुर्गन्ध राजोद्यान, राजमसान में !)
अनुज है मेरा वसन्त उसे सुनो तुम,
कह रहा है गुनगुना कर क्या तुम्हारे कान में !
प्राण मेरे हैं थके झूठी व्यथा से,
रेशमी अनुभूतियों की चाँदनी - चौंकी कथा से,
अनुज है; मुझसे लजाता सत्य कहने में !
मैं समझता, स्वस्ति मेरे मौन रहने में !!

❑

जन्मदिन १७.१.१९६१

रंग भरे स्वर

रंग भरे स्वर, ताल गंध की !
कसी हरी-सुनहरी शिराएं
हंसमुख ऋतु के प्राण -बंध की !

तोड़-तोड़ मिट्टी की परतें
अंकुर सुन्दरता के उगते
चिर-किरनीले पंखा-पखोरू
स्पर्श मलय के नभ में चुगते
फिसल गई-सी हिम-तट से
सहमी शबनम अंखुओं में दुबकी
पड़ी उषा के गंधकी वसन में-
सलवट आनन्द-छन्द की !
रंग-भरे स्वर, ताल गंध की !!

❑

२६.३.७०

गन्धवेदना

केसर-कुंकुम का लहका दिगन्त है !
गन्ध की अनन्त वेदना वसन्त है !!
चीर उर न और
बौर-बावरी,
धुंधलाए वन की
ओ अनचीती बांसुरी !

गीत था अतीत बुझे द्वीप-दीप का
मोती अनबिंधा मुंदी-मुंदी सीप का,
धूल-धूल वर्तमान
धूप-तपा तीखा,
चीख-चीखकर-
हंसना-रोना है सीखा !
गोपन मन भावी का कांचनार है !
कब फूले ? क्यों मुरझे ? बेकरार है !
उजले दिन
हरख सांझ-झांवरी !
थके-थके पांव
अभी बहुत दूर गांव री !!

❑

२२.३.१९७०

प्राण गगन बन छाए !

प्राण गगन बन छाए !
मैं रीता ही रहा; किन्तु
उनमें सतरंग समाए !
मैं युग-युग तक रहा सोचता ;–
क्या बोलूँ, क्या गाऊँ,
उनमें कूक, गूंज, मर्मर, कलरव,–
शत स्वर भर आए !
प्राण गगन बन छाए !!
धूल, धूप से मैं मुर्झाया,
झड़ी, ओस से भीगा;
उनकी समरसता के आगे–
सब ने शीश झुकाए !
प्राण गगन बन छाए !!
मेरे नाम, रूप ने मुझको–
सीमित किया, घटाया;
उनके नील नीड़ ने खग - से
सूरज, चाँद छिपाए !
प्राण गगन बन छाए !!
देश-काल के घेरे घिरता,
घुटता निश्वासों से,
वे उन्मुक्त, अछोर, डालने–
डोरे कितने आए !
प्राण गगन बन छाए !!
मैं एकाकी ही जाऊँगा
कोलाहलमय जग से,
यही सुनाते रह जाएँगे,–
किसे कौन सुर भाए !
प्राण गगन बन छाए !!

❑

कहे आज कोई

कहे आज कोई
कि बरसात में जो किसी रात सोई !
रहें टिमटिमाते किनारे-किनारे,
भरे व्योम से टूट जाएँ न तारे,
तड़ित कौंध कर नीलिमा में समाए,
अतलता सजल यों दृगों में सँजोई !
कहे आज कोई !
तिमिर का चँदोवा क्षितिज की परिधि है,
मनोरथ सजा है, न पथ नीरनिधि है,
कि अभिसार में लौटने की शपथ है,
मरण संतरण; चेतना यों न खोई !
कहे आज कोई ।
न पूछो मुझी से कहाँ कौन मेरा,
न पूछो कि इस रात का कब सबेरा !
मुखर मौन हो प्राण जो गान गाए,
न यह जान पाए, हँसी या कि रोई !
कहे आज कोई !

❑

बजी आज घन में

बजी आज घन में !
चरण-रणन ध्वनि-प्रतिध्वनि गुँजती जो मन में !!
सर छलका, सरि उमगी पुलकित अवनी वनी;
टुक झुक-झुक झूम रहा गगन जीवन-धनी,
कौन मौन हेर रहा,—टेर कहाँ वन में !
बजी आज घन में !!
सुर-लय में बँधने को आतुर उर-भावना;
कौंध रही, काँप रही, झाँक रही उन्मना,
झर-झर-झर बिखर रही यह क्या कण-कण में
बजी आज घन में !!

❑

चांद का फूल

चांद का फूल खिला
ताल में गगन के !
दर्द की सर्द हवा
गम की नमी में डूबी,
कसमसाहट की कसम,
है जमीं ऊबी-ऊबी,
रक्त का रंग लिए,
सांस की सुगन्ध पिए,
प्राण का फूल खिला
ताल में मरण के !
चांद का फूल खिला
ताल में गगन के !

सुर्ख धागे में कसा,
किन्तु तड़फड़ाता-सा
सख्त डंठल से बंधा,
किन्तु सर उठाता-सा
सब्ज कोंपल में छुपा

नर्म किरन में सिहरा,
प्यार का फूल खिला
ताल में विजन के !
चाँद का फूल खिला
ताल में गगन के !

एक सुर कौंध गया,
एक घटा-सी घुमड़ी,
आंखों-आंखों में लरज
अजनबी व्यथा उमड़ी
कुछ कि धड़कन से कढ़ा,
कुछ चढ़ा उसाँसों पर,
गान का फूल खिला
ताल में पवन के !
चांद का फूल खिला
ताल में गगन के !

लक्ष्य गढ़ते ही रहे,
राह कहीं और गई,
दिल गया और कहीं,
आह कहीं और गई !
पंक के अंक पला,
पर पड़ा न दलदल में,
ज्ञान का फूल खिला,
ताल में लगन के !
चांद का फूल खिला,
ताल में गगन के !

❑

बादल राग

(एक)

मेरी ज्वाल लाल, स्वर्णिम,
इसपर काली छाया न करो !
बादल, तुम मेरे नभ में
घिर-घिर फिर-फिर आया न करो !!

धू-धू कर जल रही चिताएँ साधों की, अरमानों की,
यह उजाड़ बस्ती है कुछ मस्तानों की, दीवानों की,
मिटीं न मिट चुकने पर भी, जिनकी ऊँची-ऊँची लपटें,
और अभी तो शेष बहुत हैं आहुतियाँ प्रिय प्राणों की,
हँस-हँस कर जलने वालों पर
आँसू बरसाया न करो !
बादल, तुम सूने नभ में
आँसू भर-भर आया न करो !!

देखी तुमने ज्योति कभी ? ओ अन्धकार लानेवालो !
माप सके नभ की असीमता ? ओ अग-जग छानेवालो !
ज्योति जगाते जो जल-जल कर, उनकी दृढ़ता जानी है ?
ओ पल भर घिर कर, फिर तनिक हवा में उड़ जानेवालो !!
जो समता की साध लिए,
उन पर ममता, माया न करो !
बादल ! जड़ जीवन लेकर
चेतन नभ में आया न करो !

एक ढेर होगा जलते अंगारों का इस ठौर यहाँ,
बहुत शलभ आएँगे उर से उन्हें लगाने और यहाँ,
फिर कुछ दिन के बाद लोग कहकर विभूति सिर पर लेंगे,
अरे, भस्म भी उनका होगा, विकच-सुमन-सिर-मौर यहाँ !
तुम तरुणों के अरुणाचल चढ़
करुण राग गाया न करो!
बादल, ज्वाल-भरे नभ में
जल-कण लेकर आया न करो !

❑

(दो)

उतर रेत में, आक-जवासों-भरे खेत में
पागल बादल,
शून्य गगन में व्यर्थ मगन मँडलाता है!
इतराता इतना सूखे गर्जन-तर्जन पर,
झूम-झूम कर निर्जन में क्या गाता है ?

(१)

'दीरघ-दाघ निदाघ' उगलता रहा आग ही,
डँसता भूमि, मयूख-दन्त रवि शेषनाग ही!
हरित-भरित तरु-गुल्म रह गए उलस-झुलस कर,
शुष्क कण्ठ, आतुर उर, कातर स्वर नारी-नर !
ऐसे में तू एक शिखर से अपर शिखर पर,
रोमल, श्यामल मेष-शशक-सा विचर-विचर कर
चरता है, परिणत गज-सा वह खेल दिखाता
नटखट बादल,
जो भूखे-प्यासे को नहीं सुहाता है!
उतर रेत में, आक-जवासों-भरे खेत में,
चञ्चल बादल,
शून्य गगन में व्यर्थ मगन मँडलाता है !!

(२)

ताड़ खड़खड़ाते है केवल ; चील, गीध ही गाते,
द्रवित दाह भी जम जाता धरती तक आते-आते,
कलरव करनेवाले पंछी, पत्तोंवाली डाली,
उन्हें कहाँ ठंडक मिलती है, इन्हें कहाँ हरियाली ?
ऊपर-ऊपर पी जाते हैं, जो पीनेवाले हैं,
कहते :- 'ऐसे ही जीते हैं, जो जीने वाले हैं!'
इस नृशंस छीना-झपटी पर, फट कपटी पर,
उन्मद बादल,
मुसलधार शतधार नहीं बरसाता है !
तो सागर पर उमड़-घुमड़ कर, गरज-तरज कर,
व्यर्थ गड़गड़ाने, गाने क्या आता है?
उतर रेत में .....

(३)

कुपथ-कुपथ रथ दौड़ता जो, पथ-निर्देशक वह है,
लाज लजाती जिसकी कृति से, धृति-उपदेशक वह है,
मूर्त्त दम्भ गढ़ने उठता है शील-विनय-परिभाषा,
मरण रक्त-मुख से देता जन को जीवन की आशा,
जनता धरती पर बैठी है, नभ में मञ्च खड़ा है,
जो जितनी है दूर मही से, उतना वही बड़ा है !
यही विपर्य्यय, यही व्यतिक्रम मानदण्ड नव,
मानी बादल,
तू भी ऊपर ही से सैन चलाता है !
तेरी बिजली राह दिखाती नहीं नई रे,
यह परम्परा तो तू भी न ढहाता है !
उतर रेत में .....

(४)

गिरि-शिखरों की उठा बाहुएँ, स्वर न अधर तक आता,
आ रे आ, तुझको बुला रही तेरी धरती माता !
समय बीतता जाता है, बीता न बहुर कर आता,
आ रे आ, मरघट को नव फूलों का देश बनाता !
क्षेत्र-क्षेत्र को प्लावित करना, है घट-घट को भरना,
आ रे आ, प्रिय, अभी तुझे तो सात समुन्दर तरना !
कोने-कोने, श्याम सलोने, तू लुक-छुप कर,
गीले बादल,
भूतल को कब वृन्दा-विपिन बनाता है ?
बूँद-बूँद देकर सूखे को हरित, मञ्जरित
और गुञ्जरित करने अब कब आता है ?
उतर रेत में .....

❑

(तीन)

बजी वज्र में तेरी बाँसुरिया बेजार !
कड़ी कड़क में पड़ी सुनाई नई पुकार !!
बादल में बिजली कि लगी पानी में आग !
झञ्झा में झोंकों में तेरा जला चिराग !!
लाल-लाल बूँदें ; यह कैसी अश्रु-फुहार !
कड़ी कड़क में पड़ी सुनाई नई पुकार !!

X X X

कौन देगा साथ इस तूफान में ?
मैं चलूँगा सिर्फ चलने के लिए,
मैं जलूँगा सिर्फ जलने के लिए,
खाक मञ्जिल का पता मुझ को नहीं,
कौन देगा साथ इस अभियान में ?
कौन देगा हाथ जलती आग में ?
कौन देगा माथ खूनी फाग में ?
याद हैं पीयूष-पायी मित्र, पर-
कौन देगा साथ इस विष-पान में ?
अब सुनी जातीं नहीं बातें बहुत,
अब सही जातीं नहीं घातें बहुत,
एक ही है सत्य, औ' सब झूठ है,
कौन देगा साथ इस अभिमान में ?
चल रहा हूँ मैं अँधेरी रात में,
जल रहा हूँ घोर झञ्झावात में,
आज दुर्दिन की भरी बरसात है,
कौन देगा साथ इस सुनसान में ?

❑

(चार)

मेघ-रन्ध्र में मन्द्र-सान्द्र ध्वनि-
द्रिम-द्रिम-द्रिम उन्मद मृदङ्ग की !
भाद्र - समुद्र - रुद्र - रव - रशना,
नाच रही कस दस - दिशि - वसना,
रिमझिम - रिमझिम, रुनझुन - रुनझुन,
छुन किट तच्छुम रन-रन, रुन-रुन,
छुम - छुम छननन, झननन -झुनझुन,
मुक्त केश सरका श्यामाम्बर !
हरित - सस्य - अञ्चल चञ्चलतर !!
ताल - ताल पर उच्छल - उच्छल -
चल जल छलछल टलमल - टलमल,
कुलकुल - कुलकुल, कलकल - कलकल,
प्रति - पदगति नति शत - तरङ्ग की
तडित् भङ्गिमा अङ्ग - अङ्ग की !!

❑

(पाँच)

तप्त गगन को सप्त सुरों से भर कर,
मेघ गा रहे मङ्गल मेघ - मल्हार !
तान - तान पर तड़ित तड़प उठती है,
प्राण - प्राण में सुरधनु का संभार !!

(१)

सरपत के आयत पत्तों से सरसर
सरक रही - सी मसृण-गात वातास
फुहियों से सज भरी-भरी लगती है
हरी - हरी नूतन तन्वङ्गी घास,
आँखों की भींगी पाँखों से पूछो,
मन के नर्तन करने का अधिकार !
तप्त गगन को सप्त सुरों से भर कर
मेघ गा रहे मङ्गल मेघ - मल्हार !!

(२)

निभृत निशीथ अनभ्र अभ्र-सा लगता
बाल तमाल द्रुमों का कानन श्याम,
ग्रह - तारक ज्योति : पुञ्जों - से जिसमें
मुकुल विकच, बहुपर्ण कुसुम अभिराम,
निर्जन पथ के अगम क्षितिज को पंथी
पूछ जुगुनुओं से है रहा निहार !
तप्त गगन को सप्त सुरों से भर कर
मेघ गा रहे मङ्गल मेघ - मल्हार !!

(३)

छप - छप, छप - छप छोटी नाव रही चल
अन्धकार का उमड़ा पारावार,
खड़ा - खड़ा क्या सोच रहा है राही ?
फैला रहा झञ्झा का हाहाकार,
रात और होती तट पर टिकने की,
आज पार से आई विकल पुकार !
तप्त गगन को सप्त सुरों से भर कर
मेघ गा रहे मङ्गल मेघ मल्हार !!

❑

(छह)

आँसू लाल हुए धरती के !
धूसर-धूमिल बाल सती के !!

(१)

पहला वज्र गिरा; गिरि - गुरु का
उपलों का वक्षःस्थल दहला;
गिरा दूसरा; गङ्गा - यमुना को
गया नया पानी नहला;
और तीसरा; सागर से हिम
मिला; शिला का सेतु बन गया;
तम - प्लावन में भूतल, उलटा,–

राहु, और नभ, केतु बन गया !
व्रणित - चरण क्षुर - धार - व्रती के !

(२)

सत्य - असत्य, अहिंसा - हिंसा
द्वन्द्व - युद्ध में क्षत - विक्षत हों !
धर्मक्षेत्र यह, जहाँ शिखण्डी –
के समक्ष गाङ्गेय प्रणत हों ?
पशुबल के स्मित - कालकूट को
आत्मा ने शतवार था पिया !
राम, राम ! जब जिया, तब जिया,
आज मरण को वरण, लो, किया !

X X X

घनन - घनन वह प्रलय - प्रभञ्जन,
तड़ित - तड़क, धक् - धक् नभ का मन;
डम - डम - डम भैरव - घन - नर्त्तन,
छन्द बंद हो नति - विनती के !

❑

श्याम परी

बादल के पंखों से उड़कर
सावन की श्याम परी आई !

सुर-धनु की सतंरगी चुनरी
झंझा के झोंकों पर फहरी
पग पायल की धुन छूम-छनन
कङ्कण किङ्किणि के रणन-झनन
उसकी बिजली की धुली हँसी
नभ को छूकर क्षिति पर छाई !

अब तो उदास आकाश नहीं
उर्वी के उर में प्यास नहीं
वन-उपवन में लेती उसाँस
चलती है चल बातास नहीं
हर ओर तृप्ति, सब ओर शान्ति
चंचल अंचल से फैलाई !

डाली में हरियाली डाली
कलिका में मधु-मदिरा ढाली
गीले मग पर पग रपट रहे
गिर-गिर कर उठती मतवाली
कितना शैशव, कितना यौवन,
कैसी मस्ती, क्या अँगड़ाई !

कजली का कल आलाप सुनो
केका कलाप, - संलाप सुनो
पिक के वसन्त में जो न सुना
चातक का विकल विलाप सुनो
धानी खेतों की ओर भोर की
चलो बुलाती पुरवाई !

बादल के पंखों से उड़कर
सावन की श्याम परी आई !

❑

घन-पाहुन

घन बन मन के पाहुन आए !
करुण -मधुर सुर के बदले
गरजे, तरजे, घहराए !
आग लगे ऐसे सुहाग में,
मुए भाग में मेरे ;
'पी कहाँ, कहाँ पी' की धुन सुन
निठुर वज्र बरसाए !
यही कोप, क्यों जली गली मैं
यौवन दलित बनाया !
पीत बदन पर धानी चुनरी
शव - शृंगार लजाए ।

❑

कजरारी बदरिया

कजरारी री घिरी बदरिया
रिमझिम - रिमझिम बूँदाबूँदी ;
भीगी सारी हरी चुनरिया,
धरती अलसा रही उनीदी ;

आया वातायन से झञ्झा-झोंका,
सिहर-सिहर उर उठता ;
प्रिय-सुधि-सी मधु-गन्ध लिए
फूली, हुलसी मदमाती मेंहदी !

जर्जर - गात, रात में इतनी,
थर-थर करता कौन बटोही-
आया मेरे द्वार ; पुकारा–
भी न तनिक ; मेरा मन मोही;

झिलमिल-झिलमिल करता दीपक
बुझा, कौन अब इसे सँभाले !
अह, सो जाऊँ, सुबह मिलूँगा,
इस छन वह भी जाए सो ही !
चौंक उठी मैं, कहीं न सचमुच –
हो कर दी ऐसी नादानी !
ऐसी नींद, और इस ऐसे
सपने के होते क्या मानी !

X X X

ऊपर उठी धूप ; छाया
मेरी आँखों में घना अँधेरा,
चला गया कब छोड़ हाय,
वह पहचानी यह चरण-निशानी !

❑

ऊदे बादल

ऊदे बादल ऊपर नभ में,
भू पर दृग-जल-धार,
भीग रहा अस्त्रों के उर में-
सहमा-सहमा प्यार !

ताल-तलैए चिहुंक उठे;
चौंकी-चौंकी-सी झील,
प्राण-पपीहे की पुकार उतराई,
चीखी चील !
नींद-भिगोई सपनों-डूबी
सुधि की नीली डोर-
हरियाली हिलकोर
झुला देती तन-मन झकझोर !
-सुर्ख-सन्दली, लहक उठा-
अरमानों का गलहार !
भीग रहा बीहड़-बंजर में
कसमस करता प्यार !

ककरेजे पाषाणों से
फूटा प्राणों का स्रोत,
उठी झलमला कनक-कपूरी-
किसी बिज्जु की जोत !
अठखेलियां लिए खुशियों की
चहका खग का मर्म,
जज्ब हुई खुशबू जमीन की,
हवा हुई कुछ नर्म
यह सुनसान फिजा,
यह गहरी खामोशी का ज्वार !
सहमा-सा आलोक भींगता
निविड़ तिमिर के द्वार !

❑

बादल उलझा

बादल उलझा अजल झील से
फैले-फैले कांस में,
एक नया सपना आँखों के
कुहरीले आकाश में !

खिला पद्म-वन,
हंसों की किंकिणि से मधु झरने लगा
प्रात पवन का नैश समर्पण
तन से मन हरने लगा,
पलकों की कंपकंपी अलस
पदतल में पनपी घास में
एक नया सपना
आँखों के कुरल-कुहर आकाश में !

खञ्जन की उड़ान-सी वर्तुल
दोपहरी की छांह है
एक प्रखर प्रवाह को बांधे हुए
लहर की बांह है
जी पानी कर देता कोई
मौन संभाले बांस में !
एक नया सपना
आँखों के भरे-भरे आकाश में !

इन्तजार का हरसिंगार
निर्जन में खिलकर झर गया,
कुररी का क्रन्दन
सन्नाटे में बेचैन बिखर गया
एक नयी धुन-सी तड़पी
नि:शब्द टूटती सांस में ।
एक नया सपना
आँखों की पाँखों का आकाश में !

मध्य मार्ग तज लौट रहा
आलोक-बटोही शाम का,
एक विवेक धुन्ध पर्दे में
गहराया निष्काम का,
डूब रही-सी आस किसी की
अनबोले विश्वास में,
एक नया-सा सपना
आँखों के धुंधले आकाश में !

❑

२१.६.६३

गदराए बदरा ये

सोनराया नभ, धरती धानी !
गदराए बदरा ये कैसे
हुआ आह ! सब पानी-पानी !!

कलई खुली कला-प्रलयी की,
उनई नई ठोस बारीकी,
गहराई उलीच दी जी की,
फूट गई आँखें कल्याणी !

गरज-गरजकर भरमाया है,
ठंडे-ठंडे गरमाया है
भारी स्वर, भारी काया है,
जाने क्या करने की ठानी !

झाड़ी-झुरमुट नहीं, अंधेरा,
शूल-फूल का उल्टा फेरा,
डाला खद्योतों ने डेरा,
ओ रवि-शशि, किरणों के दानी !

❑

खिले गुलमुहर

तार हँसी के मत उलझाओ
आँसू की लड़ियों में,
चुभो दिए नाखून खुशी के
क्योंकर पंखड़ियों में !

शिकन फुनगियों पर दूर्वा की,
पुरवा की अलमस्ती,
पिए हिचकियां ठूंठ,
तने में जकड़ी जड़ की पस्ती
छुटपुट अटके चटक सुर्ख गुल
सड़ी-गली जड़ियों में !
चुभो दिए नाखून खुशी के
क्योंकर पंखड़ियों में ?

घायल जवां इरादे,
अरमां बदल रहे-से करवट,
लो, आलोक-अहेरी के
सीने की लहकी सलवट,
कांच खिड़कियों के चटखे
आलों की फुलझड़ियों में !
चुभो दिए नाखून खुशी के
क्योंकर पंखड़ियों में !!

लुटा-लुटा-सा अ-मन चमन,
निर्माणाधीन बहार,
तार-तार तड़के, फड़का पर-
झूल रही झंकार,
हिम-पंछी की अग्नि-चोंच
मुद्रित धूमिल घड़ियों में !
चुभो दिए नाखून खुशी के
क्योंकर पंखड़ियों में !

जपा-चेतना इस सुखाड़ में
बची कि मरते-मरते !
जर्द फिजा में खिले गुलमुहर
फिर भी डरते-डरते !
तकनीकी कसाव-सा आया
वैधानिक कड़ियों में !
गेंहुंआं सुइयां लगीं सरकने
खंडहर की घड़ियों में !!

❑

६.१.१९६७

धूप रक्तकरवी की

अन्धकार का डँसा हँसा प्रकाश,
नील गरल उगल विकल दिशाकाश !

भूत-रात गली हिम-मसान की,
तप्त तान पल्लवित बिहान की !

शून्य-सिन्धु में स्वरोर्मियां सजग,
पार कर तुषार-धार मत्त खग !

प्राण-पट खुला, धुला हुलास, हास,
आँज रहे शबनमी नयन प्रकाश !

हार कर प्रहार पक्ष हो गए,
लौह तार राग स्वच्छ हो गए !

छाँह गुलमुहर-झरे पराग की,
धूप रक्तकरवी की आग की !

ज्योति-तप्त मुख पर दुख की मिठास,
मधु-ऋतु मन-नीराजन का प्रकाश !

❑

धूप-तरी

धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में
जैसे उजली बदली अम्बर नील में !

पुरवाई आई खेतों की ओर से
गई तरी झकझोर किरन की डोर से
खनक रही-सी नीरवता पतझार की,
महक रही केवलता सूनी डार की,
साँस फँसी ठिठुरी धरती की कील में,
धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में !

गुँथा-गुँथा-सा दुख से सुख है चल रहा,
किससे मिलने को मन आज मचल रहा !
जीवन-मधु की कौन बूंद निष्प्राण है ?
कौन मौन क्षण अपने में सुनसान है ?
कर्दम में जो मुंदे, खुलेंगे खील में !
धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में !!

अँकुराए संकल्प फुनगियों में कहीं,
ऊँची दृष्टि, संवर, नवीन नीचे नहीं !
गिरि-शिखरों पर जो गहराता रंग है,
वह उछाल पाती क्या सिन्धु-तरंग है !
फूल भरें परिमल शूलों के शील में !
धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में !!

❑

अप्रैल, १९९०

रंग लगे अंग

रंग लगे अंग चम्पई
नई लता के !
धड़कन बन तरु को
अपराधिन-सी ताके !

फड़क रही थी कोंपल
अंखुओं से ढक के,
गुच्छे थे सोए
टहनी से दब, थक के !

औचक झकझोर गया,
नया था झकोरा,
तन में भी दाग लगे,
मन न रहा कोरा,

अनचाहा संग शिशिर का,
ठंडा पा के
वासन्ती उझक झुकी,
सिमटी सकुचा के !

❑

श्यामा

मेरी साँसों को रूप मिले
कोयल, डाली से बोल तनिक ।
मेरे भावों को राग मिले,
मत सकुच, अरी मुँह खोल तनिक !!

श्यामा आती है तांबे की ले युगल कलसियाँ औ' डोरी,
अब और कुँए पर बैठ सकूँगा मैं न यहाँ चोरी-चोरी;
छुपता-छुपता उस कोने तक जाऊँगा; वह भी गाती है,
केवल मुझको ही देख मौन हो जाती है ; शरमाती है;

फिर तो वह प्याले भर देगी,
पहले तू नव मधु घोल तनिक !
मेरी सांसों को रूप मिले,
कोयल डाली से बोल तनिक !!

लो, लगी पेड़ गिनने भौंहें औ' चटुल उँगलियाँ नचा-नचा,
चंचल घन लोचन अंचल से अब सकता मन को कौन बचा ?
पानी भरना भी भूल रही, भोरे-भोरे झुक झूल रही,
कोंपल से हिलते होंठों पर मुस्कान मुकुल-सी फूल रही !

मैं कितना हलका लगता हूँ,
मेरे प्राणों को तोल तनिक !
मेरी साँसों को रूप मिले,
कोयल, डाली से बोल तनिक !!

❑

घास इतनी है मुलायम

घास इतनी है मुलायम, लग रही है गुदगुदी,
उर छलकता, चपल पलकें हो रही हैं अध-मुँदी !
गन्ध मिट्टी की मनोहर शून्यता को भर रही,
था न अनुभव में कभी आया परस प्रिय घास का
भूमि पर पहले न देखा रङ्ग था आकाश का !
आज का यह दिन कठिन श्रम के सुफल-सा लग रहा
सत्य की कटुता सुला सुकुमार सपना जग रहा !
सादगी की मौन महिमा हर तरफ से फूटती,
आप अपनी छाँह-छवि का सुख प्रकृति है लूटती ।
हरसिंगार बिखेरती आई उषा किस ओर से ?
बँध रहे हैं प्राण पागल उर-सुरभि की डोर से !
आज बनता कल बिगड़ता घोंसला मेरा रहा,
आज खिलता कल मुरझता हौसला मेरा रहा !
दुख जलन ऐसे छिपाए हूँ तड़ित को ज्यों जलद
मोतियों से है गई रे जिंदगी की डाल लद !

❑

ताड़ की आड़ से

बादलों से उलझ, बादलों से सुलझ,
ताड़ की आड़ से चाँद क्या झाँकता ?
मैं न हूँगा यहाँ, कह रहा नभ यही,
मैं न हूँगा कहीं ? भूमि कहती : 'नहीं' !
तुम हवा, मैं दवानल वृथा ढाँकता !
ताड़ की आड़ से चाँद क्या झाँकता ?
जीतने का न कल, वेदना हार की ?
क्या कथा स्वप्न से भिन्न संसार की !
दर्द तुम, घाव में क्यों वृथा टाँकता !
ताड़ की आड़ से चाँद क्या झाँकता ?
रंग आया नहीं, रश्मि - छाया घुली
रेख खुलती नहीं, तूलिका यों तुली !
शून्य तुम, चित्र मैं क्यों वृथा आँकता ?
ताड़ की आड़ से चाँद क्या झाँकता !

❑

१९४५

.....तो जानूं

तीखे कांटों को, फूलों का
शृङ्गार बना दो तो जानूं !

बीरान जिंदगी की खातिर
कोई न कभी मरता होगा,
तपती सांसों के लिए नहीं,
यौवन-मरु तप करता होगा,
फैली-फैली यह रेत !
जिंदगी है या निर्जल उज्ज्वलता ?
निर्जल उज्ज्वलता को जलधर,
जलधार बना दो तो जानूं !
तीखे कांटों को फूलों का–
शृङ्गार बना दो तो जानूं !

मैं छांह-छांह चलता आया–
अकलुष प्रकाश की आशा में,
गुमसुम-गुमसुम जलता आया:
उजलूं तो लौ की भाषा में !
औंधा आकाश टंगा सर पर,
डाला पड़ाव सन्नाटे ने,
ठहरे गहरे सन्नाटे को
झंकार बना दो तो जानूं !
तीखे कांटों को फूलों का,
शृङ्गार बना दो तो जानूं !

गिर पड़ी अचानक धरती पर
थी नील झील में तैर रही,
पहचान हवा का रुख न सकी
अम्बर में थी कर सैर रही,
आते-जाते सूरज सब दिन
सन्ध्या-प्रभात को सुलगाता,
तुम एक सिसकती शबनम को-
अंगार बना दो तो जानूं !

❑

जीना भी एक कला है!

जीना भी एक कला है!
इसे बिना जाने ही, 'मानव'
बनने कौन चला है !

फिसलें नहीं, चलें चट्टानों
पर, इतनी मनमानी !
आँख मूँद तोड़ें गुलाब,
कुछ चुभे न, क्या नादानी !
अजी, शिखर पर जो चढ़ना है
तो कुछ संकट झेलो,
चुभने दो दो चार खार,
जी भर गुलाब फिर ले लो।
तनिक रुको, क्यों हो हताश,
दुनिया क्या भला बला है ?
जीना भी एक कला है!

कितनी साधें हों पूरी,
तुम रोज बढ़ाते जाते,
कौन तुम्हारी बात बने ?

तुम बातें बहुत बनाते,
माना, प्रथम तुम्हीं आए थे,
पर इसके क्या मानी ?
उतने तो घट सिर्फ तुम्हारे,
जितना नद में पानी !
और कई प्यासे, इनका भी
सूखा हुआ गला है !
जीना भी एक कला है !!

बहुत जोर से बोले हो
स्वर इसीलिए धीमा है,
घबराओ मत, उन्नति की भी
बँधी हुई सीमा है।
शिशिर समझ हिम बहुत न पीना
इसकी उष्ण प्रकृति है
दुख-सुख, आग बर्फ-दोनों से
बनी हुई संसृति है,
तपन-ताप से नहीं, तुहिन से
कोमल कमल जला है !
जीना भी एक कला है !!

❑

१९३८

(१)

जिन्होंने हो तुझे देखा, नयन वे और होते हैं !
कि बनते वन्दना के छन्द, क्षण वे और होते हैं !

जहाँ गुलजार गुलशन, क्या अजब, सब फूल तेरे हैं;
लगे पर जो गले तेरे, सुमन वे और होते हैं !

मिला मुझको नहीं जब, सत्य भी मेरे लिए सपना
कि जो हक में हकीकत के, सपन वे और होते हैं ।

अगन जाए न बुझ बहते रहें आँसू किसी हद तक
उठाते जो लपट ऊँची, नमन वे और होते हैं !

मरण भी दिव्य जीवन के लिए आदर्श, पर अर्पित-
तुझे जिनके जनम, जीवन, मरण, वे और होते हैं !

गहन वन, गर्त, खाई देख चलना है मुनासिब, पर-
तुझे ही देखते चलते मगन वे और होते हैं।

❑

(२)

कोई बात है मन कि हारा नहीं है ।
य' मझधार ही है, किनारा नहीं है ।।

क्षितिज के धुंधलके में जो है चमकता,
व'अरमान मेरा, सितारा नहीं है।

उमंगें उछालें, संभालें जो बाहें,
लहर का सहारा सहारा नहीं है।

कहीं गम के मारे न हों चाँद-तारे,
मुझे इनका जलना गवारा नहीं है ।

गया आसमां चौंक जाने क्यों, मैंने–
कभी नाम लेकर पुकारा नहीं है ।

जगाओ, समन्दर की सोई हैं लहरें;
कहो मत, फलक का इशारा नहीं है ।

नजर पर चढ़ा है नजारा जुनूं का ?
मेरा हो न हो, यह तुम्हारा नहीं है।

हजारों जलेंगे, हजारों बुझेंगे,
मेरा कोई अपना सितारा नहीं है ।

न ढूंढ़ा न पाया, कभी दर्द दिल ने,
य' वीरानगी बेसहारा नहीं है ।

जमीं आसमां-दूर दोनों यहां से,
सुने कौन नग्मा, ये नारा नहीं है ।

❑

(३)

बांकपन पहचान है, मेरी सिफरिश हो न हो,
सब्ज होने से रहा बंजर में बारिश हो न हो ।

हो बड़े ऐंठे, अरे, गहरे कभी पैठे नहीं,
उठा लाल धुंआ, हरे पानी में आतिश हो न हो !

दूध-लावा, क्या चढ़ावा ! साँप होते खुशनसीब,
फन उठा चखते अमृत हैं, अमृत में विष हो न हो ।

गीध मण्डल बाँधते, चीलें हैं चिल्ला बाँधतीं,
कुछ ठठरियाँ तो पड़ीं हैं, शुद्ध आमिष हो, न हो !

भीड़ होगी, लोग मारे फिर रहे सड़कों पे हैं,
बज्मेमय में उनकी शिरकत की गुजारिश हो, न हो ।

टीसता नासूर-सा है, पहले अदना-सा था जख्म,
वक्त है नश्तर, उसूलों पर भले रिस हो न हो ।

पूर्वजों की हर धरोहर, हैं बचाते आ रहे,
फिर गढ़ेंगे रूढ़ियां, अब अपना वारिस हो न हो ।

भाट हूँ मैं लाट साहब के सदर दरबार का,
मैं कहूँगा, आपको सुनने की ख्वाहिश हो न हो।

❑

(४)

जिन्दगी की कहानी रही अनकही
दिन गुजरते रहे, सांस चलती रही !
भाप बनता रहा सिन्धु भी, विन्दु भी ?
भाप निर्जल गगन में पिघलती रही !!

अर्थ क्या, शब्द ही अनमने रह गए,
कोश से जो खिंचे तो तने रह गए;
वेदना अश्रु, पानी बनी, बह गई,
धूप ढलती रही, छाँह छलती रही ।।

बांसुरी जब बजी कल्पना-कुञ्ज में,
चांदनी थर-थराई तिमिर-पुञ्ज में,
पूछिए मत कि तब प्राण का क्या हुआ,
आग बुझती रही, आग जलती रही !

जो जला सो जला, खाक खोदे बला,
मन न कुन्दन बना, तन तपा, तन गला,
कब झुका आसमां, कब रुका कारवां,
द्वन्द्व दलता रहा, पीर पलती रही !

बात ईमान की या कहो मान की,
चाहता गान में मैं झलक प्राण की,
साज सजता नहीं, बीन बजती नहीं,
उंगलियां तार पर यूं मचलती रहीं !

और तो और, वह भी न अपना बना,
आँख मूंदे रहा, वह न सपना बना,
चाँद मदहोश प्याला लिए व्योम का,
रात ढलती रही, रात ढलती रही !

यह नहीं, जानता मैं किनारा नहीं,
यह नहीं, रुक गई वारिधारा कहीं,
जुस्तजू में किसी मौज की, सिन्धु के-
थाहने की घड़ी, किन्तु, टलती रही !

❑

(५)

देश दुनिया का था सिरमौर, हमीं भूल गए
नजर गगन में गड़ाई कि जमीं भूल गए ।

जिन्दगी का चढ़ा-चढा नशा जहन्नुम था,
मुर्दा जन्नत में तबीयत न जमीं, भूल गए ।

दर्दे दिल सर चढ़ा उतरा नशा नशेमन का,
नातवाँ-सी तड़प-गीतों की गमी भूल गए ।

घेर कर तीन तरफ से लहर रहे सागर,
लब जो सूखा दिखा आँखों की नमी भूल गए ।

गैर की ज्यादतियाँ शोखियाँ, दरिन्दगियाँ-
सब की सब याद रहीं, अपनी कमी भूल गए ।

इस किनारे न लगी नाव था कोई अब तक
पाँव रपटे, धंसे, काई थी जमीं भूल गए

ढूँढ़ते थे फिरे छतरी तो कभी बरसाती
रुत थी बरखा की, पर बारिश थी थमी, भूल गए।

बर्फ है, आब है, बुल्ले हैं भँवर -लहरें भी,
बन्द कूजे में हैं दरिया कि "ममीं ?" भूल गए।

घुट रहा था गला, लब तक जुनून का था उफान
छलक गया जो, गरल था कि अमी ? भूल गए ।

आप महफिल के सदर थे चुने गए हजरत,
तख्त पर बैठ चुका कब का 'डमी' भूल गए ।

❑

(६)

बेकसी अधखुले होठों में फंसी याद आई ।
डूबते चाँद की पुंछती-सी हँसी याद आई।

फस्ल थी कहकशाँ-सी खेत चढ़े थे आकाश,
कटती बालों के गले साँस गँसी याद आई।

पलकें अश्कों का जनाजा उठाए ठिठकी थीं
पुतलियाँ ख्वाब के फन्दे में फँसी याद आई।

दिल जो महफिल से उठा, गुम हुआ वीराने में,
रोशनी गहरे अंधेरे में धंसी याद आई।

रूह तो हो गई आजाद आदमी न हुआ,
चौकठे में यूँ खुराफत ठंसी याद आई।

अब के पतझार में धोके से आ गई थी बहार
गन्ध चन्दन की, सौ साँपों की डंसी याद आई।

❑

(७)

जीवन भी मिला, प्यार भी, क्या और चाहिए ?
गुलशन मिला, बहार भी, क्या और चाहिए ?

सांसों की कसक फांस गले की न बन सकी ?
सुर भी मिला, सितार भी, क्या और चाहिए ?

कतरा ही सही, सूख गया तो न रेत में,
दरिया मिला, दयार भी, क्या और चाहिए ?

खंजन भरें उड़ान, छिड़ा ज्ञान का प्रसंग,
आंगन भी मिला, द्वार भी, क्या और चाहिए ?

गुंचा खिला, हुआ न किसी आँख का कांटा,
दिलकश मिला, दिलदार भी, क्या और चाहिए ?

कब जिन्दगी के दौर में संजीदगी न थी,
गम भी मिला, गमख्वार भी, क्या और चाहिए ?

जलती थी शमां, चूम कर परवाने ने कहा:
"अंगार भी, शृंगार भी, क्या और चाहिए ?

आई अलस्सबाह हवा खोल खिड़कियाँ,
खुशबू मिली, खुमार भी, क्या और चाहिए ?

परवाज की परवानगी देगी न कायनात,
दीवार भी, दीदार भी, क्या ओर चाहिए ?

❑

(८)

मैं न भटका संगेरह मेरा रहनुमा था, बचा लिया ।
कौन सर टकराता दिल से ? बदगुमां था बचा लिया ।।

मेरे बीराने में किसकी रोशनी का मुकाम था
आसमान, तेरा अंधेरा खुशनुमा था, बचा लिया ।

आगे आती थी बहार घड़ी-घड़ी पतझार में,
हम सदा पर मेरा गुलशन मेहरबां था, बचा लिया ।

तेरे नक्शेपा की कसम, कदम-जब उठे तो नग्माबार ही,
हमराही साया एक अपना, बेजुबां था, बचा लिया ।

दरगुजर के थी न काबिल,गुजर हद से थी गई
जिन्दगी मुझ पर न हो पाई नुमायाँ, बचा लिया ।

❑

(९)

बौछार है, बयार से छनती नहीं फुहार ।
पतझार गा रहा है शुष्क कण्ठ से मल्हार ।।

सरसों मचल रही थी, जब बैठी थी फूल कर
ठूंठों की कसम, अबके यहीं आयगी बहार !

सरदर्द, जर्द फूल बिखर खेत में गए,
जलधार नहीं, जल उठी है आँसुओं की धार !

अरहर की हरी छीमियाँ बदरंग हो गईं,
चढ़ती थी मटर की लतर, सरसों ने दी उतार !

"मकरन्द की सुगन्ध फिजाओं में तिरेगी"
पानी पड़ा उम्मीद पर, जलजात पर तुषार !

ढोती रही सलीब मरी जिन्दगी, मगर-
कहती थी : क्यों मजार को हो मेरा इन्तजार ?

विश्वास-भरी चेतना, उच्छ्वास-भरा मन
खाली रहा न जाम, नजर पर चढ़ा खुमार ?

क्रम चरमरा रहा कि जीर्ण-शीर्ण हो गया,
आता नया, जनून में, लेता उसे निहार !

❑

(१०)

द्वार पर तेरे कभी आया नहीं,
होगा नभ, मैं ने सर झुकाया नहीं ।

कर्म करना है, धर्म क्या कुछ और ?
ज्ञान कहता है : कर्म माया नहीं ।

तारे हारे हैं, चाँद कटता रहा,
सूर्य को तमसे युद्ध भाया नहीं ।

आँख फूटी, अंधेरा अन्धा हुआ,
रास उसको प्रकाश आया नहीं ।

गड़े पहाड़ तने, कितने दरख्त,
बोझ धरती ने कम उठाया नहीं ।

रह गया सोया कुमुद कीचड़ में-
बन्द; चन्दा ने था जगाया नहीं ।

गीत उर्दू लिखे, गजल हिन्दी
उफ लड़ाना जबान आया नहीं ।

क्या कहा ? क्यों कहा ? खिजाँ खामोश,
था बहारों से मुंह लगाया नहीं ।

❑

(११)

गुलशन न रहा, गुलचीं न रहा, रह गई कहानी फूलों की,
महमह करती-सी वीरानी आखिरी निशानी फूलों की।

जब थे बहार पर, तब भी क्या-हँस-हँस न टंगे थे काँटों पर?
हों कत्ल मजार सजाने को, यह क्या कुर्बानी फूलों की ।

क्यों आग आशियाँ में लगती बागबाँ संगदिल होता क्यों ?
कांटे भी दास्ताँ बुलबुल की सुनते जो जुबानी फूलों की ।

गुंचों की हंसी का क्या रोना जो एक लम्हे का तसव्वुर था;
है याद सरापा आरजू-सी वह अहदेजवानी फूलों की ।

जीने की दुआएं क्यों माँगी ? सौगन्ध गन्ध की खाई क्यों ?
मरहूम तमन्नाएं तड़पीं फानी तूफानी फूलों की ।

केसर की क्यारियाँ लहक उठीं, लो, दहक उठे टेसू के वन,
आतिशी बगूले मधु-ऋतु में यह क्या नादानी फूलों की ।

रंगीन फिजाओं की खातिर हम हर दरख्त सुलगाएंगे,
–यह तो बुलबुल से बगावत है गुमराह गुमानी फूलों की।

सब की मुराद तो बर आई, मांगू मुराद क्या सरसर से ?
यह चमन अम्न का था आगे, खुशबू मेहमानी फूलों की।

"सर चढ़े बुतों के"-बहुत हुआ; इन्सां ने इरादे बदल दिए;
वह कहता : दिल हो पत्थर का, जो हो पेशानी फूलों की।

थे गुनहगार, चुप थे जब तक, काँटे, सुइयाँ, सब सहते थे;
मुंह खोल हुए बदनाम बहुत, हर शै बेमानी फूलों की ।

सौ बार परेवे उड़ा चुके, इस चमनजार में यार, कभी-
खुदकुशी बुलबुलों की देखी ? गर्दिश रमजानी फूलों की ?

❑

(१२)

ए वतन, याद है किसने तुझे आजाद किया ?
कैसे आबाद किया ? किस तरह बरबाद किया ?

कौन फरियाद सुनेगा, फलक नहीं अपना,
किस निजामत ने तुझे शाद या नाशाद किया ?

तेरे दम से थी कायनात आशियाना एक,
सब परिन्दे थे तेरे, किसने नामुराद किया ?

तू था खुशखल्क, बुजुर्गी न खुश्क थी तेरी,
सदाबहार, किस औलाद ने अजदाद किया ?

नातवानी न थी, फौलाद की शहादत थी,
किस फितूरी ने फरेबों को इस्तेदाद किया ?

गालिबन था गुनाहगार वक्त भी तारीक,
जिसने जन्नत को जमाने की जायदाद किया ?

माफ कर देना खता, ताकि सर उठा के चलूं,
काहिली ने मेरी शमशेर को शमशाद किया ?

❑

(१३)

कैसे कोई यकीन करे कितना जला तू !
उतनी न रोशनी हुई कि जितना जला तू !!

दीपक की तरह तू जो रात-रात भर जला,
पूछा नहीं पतंग ने : क्यों इतना जला तू ?

दुनिया को नए दिन का कहां इन्तजार था ?
क्यों मुंह अंधेरे रोशनी का कितना जला तू !

गर्दिश में आ गया था ? गर्द आग थी हुई ?
गर्मी निकाल दी ? झुका ? कितना जला तू !

जंगल जला दिया, हरी परछाइयाँ जलीं,
तनहाइयां जला दीं ? आह इतना जला तू !

❑

(१४)

पलकें भारी हैं, पुतलियाँ पुरआब,
आंखें हैरां हो देखती हैं ख्वाब ।

कुछ अदावत-सी है हकीकत से,
आह! क्यों आँखें देखती हैं ख्वाब ?

जी जलाओ न, फैलता है धुआँ,
बन्द आँखें भी देखती हैं ख्वाब ।

जीस्त है जानती, जुनूं क्या शय,
पलकें फड़का के उड़ चले हैं ख्वाब ।

राजे हस्ती हमें भी है मालूम,
दिल ने क्या देखा, गर न देखा ख्वाब

नफस का साज शोरोगुल में बजा,
सो गए गीत, खो गए हैं ख्वाब ।

दर्द को दे न सकेंगी आवाज,
आँखें हैं, देखती रहेंगी ख्वाब ।

बाँधने थे चले हवा, लेकिन-
हो गए आप हवा, यह क्या ख्वाब ।

आज हर जिन्दगी की उचटी नींद,
मौत मायूस, कौन देखे ख्वाब ।

❑

(१५)

धूप दुपहर की मुख्तसर-सी थी ।
रात भर मैंने चाँदनी पी थी ।।

किन अंधेरों में नजर चुंधियाती,
मैंने हर सिम्त रौशनी जी थी ।

तेरा मुखड़ा था मेरा मन-दर्पण,
लौ थी लौ पर जमी सियाही थी ।

जीत होती है बुलबुलों की तरह
मेरी कोई लहर न हारी थी ।

शम्मा जलती थी, जले परवाने,
क्या तमन्नाएजिन्दगानी थी ।

कौम को ऊंचा उठाया यूं गिरा,
उसकी हर बात अमर-वाणी थी ।

कौन पत्थर न गल-पिघल के बहा ?
किसकी दुनिया न आनी जानी थी ।

धूप होगी न, छाँव क्या होगी ?
किस भगोड़े की ली तलाशी थी ।

फिक्र बेशक है सनमखानों की,
एक बुत मैंने भी बढ़ा दी थी ।

मौत बेमौत मर गई होती,
मैंने ही उसको जिन्दगी दी थी ।

❑

हरिहर क्षेत्र का मेला

१

इस अखण्ड ब्रह्माण्ड बीच छत्तर का-जैसा मेला-
कहीं नहीं लगता, सुनता था होश हुआ था जब से,
मेरी उमर पचीस साल की हुई आज तक तब से,
मगर न मौका मिला कभी भी, जोड़ूँ पैसा-धेला,-
और चलूँ उस ठौर, जानता जिसको बच्चा-बच्चा,
देखूँ अपनी आँखों, कहते लोग झूठ या सच्चा,
इतने में सुन पड़ा, खरीदो हाजीपुर का केला !
'गुरू' सोनपुर, हाजीपुर उसका अदना - सा चेला !!

२

खुशी हुई, इसके आगे था आनेवाला छत्तर;
चला मुजफ्फरपुर से था, जाड़े में भी थी ऊमस,
छोटे-से डिब्बे में षड् ऋतु और बन्द थे नव-रस,
लोग ठसाठस भरे हुए थे पचहत्तर, सतहत्तर;
बाल-बालिका, तरुण-तरुणियाँ, वृद्ध और वृद्धाएँ,
पतित और पतिताएँ औ' कुछ सिद्ध और सिद्धाएँ,
सभी सटे-सिमटे, शरीर का टूटा 'गत्तर-गत्तर' !
तो भी खुशी कि बस अब तो आनेवाला ही छत्तर !

३

ऋष्यश्रृङ्ग को वार-नारियों ने क्या लोभ दिखाया,-
सो तो कहना कठिन, जनानी बात एकदम ठहरी !
वे सर्वांग-सुन्दरी होंगी यहाँ कूबड़ी, बहरी,-
कानी, लूली, लँगड़ी, नकटी, -सभी किस्म की काया-
हुई इकट्ठी थीं, स्टेशन पर टिकट दिखाना मुश्किल,
पुरुषों पर थीं चढ़ी आ रहीं, उन्हें सिखाना मुश्किल,
माँ-बहनें थीं नाम-मात्र को, बहुत अधिक थीं जाया !
ज्ञान कहीं भी नहीं, सब तरफ दिखती माया, माया !!

४

गँवई जोड़ी एक, साथ मेरे, डिब्बे से उतरी;
फटी मिर्जई, रुक्ष ऋक्ष-सा लोमश, कर्कश काय-
पति मानो निकला था लेकर लट्ठ चराने गाय !
और कामिनी 'कनक-छरी', 'कटि छीन', जवानी उभरी
जन-समुद्र ज्यों क्षुद्र, तरी वह निर्भय झिर-झिर तिरती,
जिसे सामने से निहारती दृष्टि उसी की फिरती,
उसका पति अति सावधान, मत जाय उतारी गठरी !
कहीं न लुटिया डूब जाय, जल-राशि श्याम-उर ठहरी !

५

गोलमाल कुछ हुआ अचानक, शोर कि वह है, पकड़ो,
मगर बाँधता गाँठ लगाकर कौन हवा को झटपट ?
वह तो बह ही गई हटा आँखों का पर्दा, घूँघट,
दे दिलचस्प नसीहत सबको,- "बस, आपस में झगड़ो !"
फटी कंचुकी बेचारी की, शरमाई कुछ खोकर,
फिर दिल हल्का किया वहीं पर सिसक-सिसक कर , रोकर
पति बोला,- "रोने से ही क्या ? नाक भूमि पर रगड़ो,
मेले का ले नाम थूक चाटो, कानों को पकड़ो !"

६

किन्तु जिस लिए आई थी वह इतनी दुर्गति सहती !
आठ कोस पैदल चल, फिर डिब्बे में पिसती-पिसती,
बिना अन्न-पानी के हँसती, स्वप्न-शान पर घिसती,
उस मेले से तुरत लौट चलने को कैसे कहती !
कैसे लेकर नाम उसी का थूक चाट सकती थी !
पर कैसे उस खरे खसम की बात काट सकती थी!
इसी द्विधा में रही मौन, उत्तर में आँखें बहतीं,
मैं बढ़ गया किए सिर नीचा, उच्च दण्ड वह सहती!

७

अब आया बाजार, पार करना था उसे तुरन्त,
भूख लगी थी, होटल की थी दिल ही दिल तालाश,
अन्धे कुत्ते भौंक रहे थे लगते ही बातास,
अगल-बगल थे चले जा रहे साधू, सन्त, महन्त,

'चप्पा-चप्पा' भरा हुआ था दूकानों से, तो भी–
मेरा मन बन सका न वैसा मिष्टान्नों का लोभी,
श्रान्त, क्लान्त था खोज रहा कोई होटल, श्रीमन्त–
मांसाहारी जहाँ न पहुँचे कोई सन्त, महन्त !

८

सहज घृणा है मुझे मांस से, मित्रों ने समझाया–
बहुत बार, है उससे बढ़कर भोजन पुष्ट न और,
पर नफरत ही बढ़ती है जब-जब करता मैं गौर,
सो होटल का द्वार देखकर मैं तत्क्षण फिर आया।
नाक नहीं दी जाती थी, क्या मत्स्य-मांस की गन्ध!
जो खाते उनकी न नाक होती ? यदि आँखें अन्ध–
होतीं नहीं ! भूख के मारे मैं निरर्थ झुँझलाया !
अति पवित्र भोजन निहार अपवित्र न मन बन पाया !

९

कुछ फल, मेवे खाकर, पीकर गर्म-गर्म गोदुग्ध,
चला घूमने, होने ही वाली थी अब तो साँझ,
कहीं मँजीरे बजते थे तो कहीं झनकते झाँझ,
किस सुख की अनुभूति करूँ, था बेसुध औ' विक्षुब्ध !
रस निचोड़ कर बिकता था पैसे-दो-पैसे-सेर,
औ' आनन्द ? लूट ले कोई भी, क्यों करता देर !
फैलाई मैंने निगाह सरसरी, नेत्र थे मुग्ध,
कुछ फल, मेवे खाकर, पीकर गर्म-गर्म गोदुग्ध !

१०

'बकर-बकर' मुँह लगा ताकने जनारण्य वह देख !
चींटी से हाथी तक, बन्दर से बब्बर तक पहुँचे
मूत्र-पुरीष तलातल तक, रजकण अम्बर तक पहुँचे
और धुआँ ? था छिपा उसी में छपा सत्य पर लेख !
'प्रगतिशील' नारियाँ बीच में, अगल-बगल घरवाली
सीधी सड़क बीच में थी, औ' अगल-बगल में नाली
यार स्यार थे चले जा रहे निरख सिंह-नख-रेख !
'बकर-बकर' मुँह ताकूँ खुद को 'सकर-पकर' में देख !!

११

जैसे आता ज्वार और फिर भाटा रत्नाकर में
छाप कूल को छलका जाता मूल्यवान बहु-रत्न
कुछ घोंघे, घड़ियाल किनारे लगते बिना प्रयत्न
लहराता जाता त्यों मैं भी उस जन-सिन्धु-लहर में
और कहीं धोंघा-सा फेंक दिया जाता झकझोर
इधर धुएँ से दम घुटता था, फिर बदबू घनघोर !
तीव्र धार में हँसता ही, फँसता आवर्त्त, भँवर में,
दिल बहलाने क्या आया, मर जाने इसी उमर में !

१२

कुछ खीमे-तम्बू थे डाले हुए महाराजों के
जहाँ विपथगाओं का झन-झन-झन सुन पड़ता हरदम
जिनके उर में मधुर मूर्च्छना, सुर में सारे सरगम
कालिदास के शब्दों में, नटराज बिना बाजों के !
वेश्याएँ गातीं, वे आगे 'नाधिन् धिन्ना' करते
यह भी कोई बात कि सावरकर से जिन्ना डरते !
काम आसमाँ में उड़ना ही बाज-बाज बाजों के,
राजे, महाराज फिर सिर हैं सभी गलाबाजों के !

१३

हाथी थे चिग्घाड़ रहे, हिनहिना रहे थे घोड़े,
बब्बर-सिंह दहाड़ रहे थे, गरज रहे थे शेर,
रेंक रहे थे गधे सधे-सीधे सबके ढब घेर,
किटकिट करते बंदर, फोंफियाते भालू के जोड़े,
सर्कस कहीं, कहीं बंदर-भालू के होते नाच,
रहा एक कपि राधेश्यामी रामायण था बाँच,
सुन-सुन बीच भैंस पगुराएँ, भड़कें बैल 'निगोड़े',
हाथी थे चिग्घाड़ रहे, हिनहिना रहे थे घोड़े !

१४

मानव गिनती की हद पाए, इतने पशु थे आए,
इतने लोग, कि क्या गुलाम नर-मादों की भी मस्ती
इतने पैसे जाय खरीदी मानवता भी सस्ती!
दो चौपाए भिक्खू महतो मगर नहीं ले पाए

अंटाचित्त हुए सुनते ही उनके महँगे दाम
लौटे, चले श्मशान घाट ज्यों होते काम तमाम !
क्या खाएँगे लोग-बाग उनके घर के मुँह बाए !
जहाँ आदमी सस्ता, महँगा बैल न क्यों हो जाए ?

१५

चिड़ियों का बाजार इधर, तीतर, बटेर औ' मोर,
हारिल, बुलबुल, बत्तख, रंग-बिरंगे मुर्ग, कबूतर
चें-चें चों-चों किर-कोकों औ' टें-टें टों-टों टर-टर
सुन-सुन मुश्किल यही समझाना, सांझ हुई या भोर!
यह बाजार बर्तनों का, काँसा, पीतल औ' फूल
उतनी चमक न उन पर फैली, जितनी फैली धूल
टं-टं, ठं-ठं, झं-झं कितना तन्त्र-मन्त्र का जोर !
सुन-सुन मुश्किल यही समझाना, गूँगे करते शोर !

१६

ये शर्राफ जोहरी बेच-खरीद रहे हैं रत्न
चाँदी-सोने की न चलाओ, यहाँ जवाहर-हीरे-
जड़े हुए गहने बनते-बिकते हैं धीरे-धीरे,
जितनी नई गढ़न, उतनी ही धातु लगाते प्रत्न !
वह हैं सुकनी और सनिचरी, एतवरिया, सोमरिया,
भीड़ लगाए खड़ी हुई 'मेहरारू करिया-करिया'
चार-चार पैसे लाई हैं, करके अथक प्रयत्न
मुँदरी ढूँढ़ रहीं, राँगा-लोहा ही उनके रत्न !

१७

मँगरी-बुधनी-बिफनी की तो आँसू हैं आँखों में
सौदा पटा नहीं, औ' घायल दिल से जब बढ़ती थीं
प्रतिभा, अनुराधा, चित्रा ने डाँटा, वे पढ़ती थीं-
"खाओ, पिओ, करो मौजें, " थीं एक अरे, लाखों में !
रगड़ गई थी देह देह से, बात रही इतनी ही,
'रस्टिक गर्ल्स' हाय, वे सब थीं, घात रही इतनी ही
गर्द पड़ गई इसीलिए फूलोंवाली शाखों में !
देखो, आँसू मँगरी-बुधनी-बिफनी की आँखों में !

१८

हरिहरनाथ देव के दर्शन कर पँचकौड़ी मल थे-
चले आ रहे, शक्ति-रूपिणी कई भक्तिनें साथ,
जितना पेट खुला, उतना ही ढँका हुआ था माथ;
पँचकौड़ी मल से टकराई चित्रा चलते-चलते,
वह 'बेशर्म, बेहया' कह-कह लगे झपट गुर्राने
प्रतिभा-चित्रा-अनुराधा तब लगीं झेंप-मिमियाने
मँगरी-बुधनी-बिफनी हँसने लगीं पलक-दल मलते
लौटे आते हरिहर-मन्दिर से पँचकौड़ी मल थे ।

१९

जमा अखाड़ा बड़े-बड़े तगड़े साधू-सन्तों का
लोग-बाग घेरे हैं, देखो, धर्म-अर्थ-कामार्थी,
गाँजा-भाँग-अफीम चढ़ाते कई 'पेनबामार्थी'
अगल-बगल में पाठ हो रहा कितने सद्ग्रन्थों का !
अनुशीलन भी साथ-साथ होता जाता मिलते ही-
बिगड़ी छोकरियों से आँखें, नाजुक दिल छिलते ही !
आविष्कार उदार हो रहा नए-नए पन्थों का !
देखो, वह अड्डा तगड़े-तगड़े साधू-सन्तों का !

२०

श्रेष्ठ किताबें हिन्दी लिट्रेचर की कितनी आईं !
गुलबकावली से ले तोता-मैना के सब भाग
सिंहासन-बत्तीसी, प्रेम-छतीसी, शीशी- कॉर्क,
और चन्द्रकान्ता -बाइबिल की बच्ची, मनु की ताई !
कच्चे बंगाली कहते, रवि-सा कवि हुआ न पहले
मैं कहता, पहले वे राधेश्यामी सीरिज पढ़ लें !
नमक-मिली मुर्रियाँ वहाँ, क्या यहाँ न नान खटाई ?
'शॉ' हाँकेंगे डींग, दिखा जब तक न -भिखारी नाई !'

२१

सेठ बुहारू मल की आई कपड़ों की दूकान
झँगरू-मँगरू मार रहे झख, इन्हें न फुर्सत इतनी
पानी पी लें, खा लें थोड़ी जवाखार की बुकनी
परेशान हैं रुपये गिनते-गिनते कर हैरान !

राम फटाका चन्दन सिर में, सिर पर पगड़ी लाल
चित्रगुप्त इनके मुनीम औ' द्वारपाल हैं काल
'आएँ, यहाँ विराजें, खाएँ भी तो जरदा-पान,
ये कशमीरी शॉल, लाल इमली के नाक न कान !'

२२

रूप-हाट की बाट इधर; हर शख्स खोजता हूर
सर के बल चल रहा, तल रहा गर्म-गर्म अरमान,
खुदा खा रहा खौफ, ताकता उसका मुँह मेहमान !
हो जाते जज्बात आप ही आप मगर काफूर -
जब-जब दिख जाती करीब से जन्नत की मायूसी
ताजमहल में रखी हुई ज्यों जौ-गेहूँ की भूसी !
कंडे पाथ नूर के गड्ढे दिए किसी ने पूर !
यह हुजूम से घिरा इश्क का हुस्न-परस्त हुजूर !

२३

वह गुलाब, वह जवाकुसुम, वह चम्पा और चमेली
वह नर्गिस, वह ताज, नाजनी, आलमआरा वह है
कृष्णा, वीणा, शशी, सोहनी, श्यामा, तारा वह है
उस चुड़ैल का नाम हसीना, वह बुढ़िया अलबेली
दो आने से पाँच - सात रुपयों तक इनकी कीमत
सब कुछ पहले खत्म हो चुका, अब पूँजी ही अस्मत
इनके खीमे-खीमे धक्का - मुक्की, ठेला-ठेली,
वह गुलाब, वह जवाकुसुम, वह चम्पा और चमेली

२४

कृष्णा औ' वीणा, कहते सब, हैं उस्ताद गवैया,
जमींदार, राजे, महराजे-सभी फिदा हैं उन पर,
यों वह कहते, मुग्ध हुए हम उनके सुर पर धुन पर !
यह नवीन उपयोग न धन का, है कुदरती रवैया !
विष्णु दिगम्बर की थीं तानें सुन ली, जब था बच्चा,
अब भी इतना शौक कि समझूँ म्यूजिक पक्का, कच्चा,
पर ठाकुर ओंकारनाथ गाने लगते जब -'मैयाऽ
मैं माखन नहिं खायो' तब वह कहते-'यही गवैया'?

२५

कला-पारखी होते कितने, यह तो भुवन-विदित है !
कहते हैं, हम भाव देखते, मगर देखते आँखें,
नृत्य नहीं, वे परखा करते रूप-परी की पाँखें,
असल कला की अतः हो रही उन्नति भी नित-नित है !
चीर कलेजा कलाकार दिखलाता है, -यह देख,
जग कहता, छीः, मांस-पिंड पर खिंची रुधिर की रेख !
प्राण देखनेवाला तन पर होता कब मोहित है !
कला -पारखी होते कितने, यह तो भुवन-विदित है !

२६

परिस्तान की तरफ चला जाता था मैं जिस वक्त,
एक प्रखर आलोचक मेरे दिखे उधर से आते,
लगे फुदकने झट निपोर कर खीसें, 'क्यों शरमाते ?
मैं न कहूँगा कहीं किसी से, आप न बगला-भक्त !
तेज कदम बढ़ जायँ, बहुत-सी आई है कविताएँ ;
आप कहें, दो -चार-पाँच का हम भी पता बताएँ ;
सुन कर क्रोध हुआ, होने दीं आँखें किन्तु न रक्त,
आलोचक कम्बख्त जहाँ, कैसे हो बगला भक्त ?

२७

आज पूर्णिमा थी, जाते सब करने संगम-स्नान
मैं भी चला, घूमता ही था कल से, जब से आया
हरिहर नाथ देव के दर्शन भी न अभी कर पाया
पुण्य हो न हो, मेले का था यह भी एक विधान !
अंडा - जैसा पंडा एक मिला जब कच्चा बच्चा-
पाँच - सात का, मैंने सोचा, यह होगा ही सच्चा,
वहीं पर्स औ' कुर्त्ता, चप्पल रख कर, धर कर ध्यान-
गंगा मैया का कर डाला गंडक ही में स्नान !

२८

थोड़ी पूजा की, अष्टोत्तर शत गायत्री का जप,
वह चिंतामणि मंत्र कि जिससे लिखा गया था नैषध,
और महामृत्युंजय, कहलाता जो दीर्घायुःप्रद,
देख पड़े, जब आँखें खोलीं तब वसिष्ठ औ' कश्यप,

भरद्वाज, अंगिरा, कपिल, गौतम, कणाद–सब आगे,
ध्यान लगाए बैठे थे, कुछ सोए थे, कुछ जागे–
केंद्र-बिंदु था बना हुआ मैं, वैसा किया न था तप,–
बन जाता मैं स्वयं हाय, जिससे वसिष्ठ या कश्यप !

२६

खड़ा हो गया फिर उठ कर झट पकड़ बाँस का खम्भा
देख सामने स्वर्ग रह गया मैं तो हक्का-बक्का,
हुआ उचक्का दिल, जैसे चलता इक्के का चक्का,
नहा-नहा थीं वसन बदलती अहा ! उर्वशी, रम्भा,
स्वर्ण-वर्ण कोई, तो कोई ताम्र आम्र की कोंपल,
कहीं चन्द्र-मण्डल मावस का, तनिक न हुआ अचम्भा !
धत् तेरे की ! कपड़े-कपड़े ! कहाँ उर्वशी, रम्भा !

३०

पीछे पलट निहारा, चप्पल और पर्स थे गायब
गीला टावेल हुआ नदारद, बचा देह पर जो था,
सोचा, 'परियों' के दर्शन का प्रायश्चित्त अनोखा !
'सीता बेगम' याद हुईं औ' याज्ञवल्क्य जी 'नायब' !
लगा सोचने, ये अभागिनें क्यों करती हैं स्नान-
जहाँ मर्द की गर्द उड़ रही, होता जप, तप, ध्यान !
समझाने पर लड़ने लगतीं -'हम तो हियैं नहायब'!
'सीता बेगम' याद आ गईं औ 'लक्ष्मण जी' नायब।

३१

पर रोनी सूरत हो जाती, जब करता मैं याद-
ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी हैं ताड़न-अधिकारी,
इनके मोद-प्रमोद के लिए घर, आँगन औ, 'बारी',
तड़फड़ करते प्राण - पखेरू उड़कर हों आजाद ?
मेले या बाजार - बीच खुलकर हँसती - खिलती हैं,
पुरुषों से भी अधिक नारियाँ तभी यहाँ मिलती हैं,
घर पर जीतीं, किन्तु यहाँ लेतीं जीवन का स्वाद,
धर्म-कर्म तो ब्याज, राज क्षण भर होना आजाद !

३२

भूल गया अपनी चीजें खो जाने का दुख सारा
टूटा जब दुपहर में तारा मध्य गगन में एक,
हो-हल्ला मच गया, उड़ चलीं बातें तभी अनेक,
काबू में हो सका बड़ी मुश्किल से सच का पारा,-
बाल-यौवना शिशिर - धौत शेफालि-मालिका-सी थी,
ग्राम-भामिनी सरल एक गोपाल -बालिका-सी थी,
पड़ी स्तब्ध, निश्चेतन, तकती बहती गंगा - धारा,
काबू में हो सका बड़ी मुश्किल से सच का पारा !

३३

भगवतिया है नाम, सास से हरदम रहती डरती,
उम्र हुई चौदह की, लेकिन लड़का हुआ न पैदा,
सास बनाती उसे इसी से मार - मार कर मैदा,
आखिर मारे डर के बच्चा जना, और क्या करती !
रही मनौती: गंगा मैया पूरी कर दें आस,
जीता बकरा जायँ चढ़ाने स्वयं पतोहू, सास,
आई थी भगवतिया घर से गिरती, पड़ती, मरती,-
गंगाजी को बकरा देने, बेचारी क्या करती !

३४

बाँभन चिउड़ा - दही न खाता था, जो ढोकर लाई,
भगवतिया थी त्रस्त, दक्षिणा हाय कहाँ से पाती,
ताने देती सास, साध कर साँस रही शरमाती
कठिनाई थी, आई थी वह लेकर ग्यारह पाई !
बड़ी देर तक कड़ी बहस के बाद हुआ 'जेवनार',
फिर बकरा-संकल्प, दक्षिणा आधी रही उधार,
बकरी का बच्चा मेंमियाता, कैसी गंगा माई !-
लेतीं नहीं हुलस गोदी में ! भगवतिया घबराई !

३५

भगवतिया थी ठिठुर रही, गंगा की धारा शीतल,
पैठ कमर तक जल में बकरे को थी रही डुबोती,
वह न डूबता, सास डाँटती-"ओ चमार की पोती,
ले, सँभाल अपने बच्चे को, करता कलबल-कलबल" !

बाईं बाँह फँसी बच्चे में, दाईं में बकरा था,
बच्चा रोता, में-में करता बकरा डरा-मरा था,
इधर देखती, उधर देखती, भगवतिया थी विह्वल,
बच्चा रोता, बकरी का बच्चा था करता कलबल !

३६

सास डाँट कर हटी वहाँ से, तब भगवतिया पगली
झटपट फेंक चली बच्चे को, जिधर तेज थी धारा,
चढ़ आई ऊपर भू पर, पिच्छिल था कूल - किनारा,
औंधे मुँह गिर पड़ी, सास से गई न जिससे निगली !
लेकिन यह क्या ? बकरी का बच्चा तो है मेंमियाता !
औ' उसका बच्चा ? क्यों हाय, कलेजा मुँह को आता ?
गंगा मैया ! तू पहचान न पाई असली, नकली ?
अब न कराना होश उसे माँ, भगवतिया है पगली !

❑

गई काटने गेहूँ अम्मा

गई काटने गेहूँ अम्मा
बाप गया बेगारी में है ;
खा अफीम घर के कोने में
बच्चा पड़ा खुमारी में है।

तपी दुपहरी, बाप बोझ लेकर
सिर पर चलता जाता है;
छलक रहा शीतल जल पलकों से,
तलबा तलता जाता है।

'क्या लेकर घर लौटेगा वह'-
अपने मुँह में बोल रहा है;
पकड़ गया बेगारी में है,
है जड़, पर उर डोल रहा है।

बड़े सवेरे ही से माँ
शाम की जोहती बाट रही है;
फल पाने की लालच, पर
पौदे की जड़ ही काट रही है।

हँस-हँस हँसिया चला रही थी,
अब क्यों तो कुछ खिन्न हुई है !
बच्चे की सुध की चोटों से
शायद छाती छिन्न हुई है !!

डँस कर साँप पताल में छिपा,
शिशु का रक्त व्योम में फैला;
डूबा सूरज, हुई शाम,
उग गया एक तारा मटमैला ।

आँखों में मोती भर पहुँचा
बाप, धूल के हीरे, माता,
गाँठ चीर कर दाने,
छाती छोड़ क्षीर था छलका जाता।

बाहर हीरे-मोती बिखरे,
भीतर लाल लहू का मूँगा !
उनके सुख में हाथ बँटाता,
हा ईश्वर ! पर बालक गूँगा !!

❑

१९३८

मिट्टी के हाथी-घोड़े !

मिट्टी के हाथी-घोड़े !
माँ देने आती, लड़ पड़ते,
वह लड़के थे थोड़े !
बड़े-बड़े थे उनके बाल,
गोले, गीले गंदे गाल,
चलते-फिरते, आते-जाते,
बाबू के बेटों के,
हँस कर सहने के आदी थे
घूँसे, चप्पत, कोड़े ।
समझाती माँ छू कर गात
मेरे बेटो, मानो बात,
'दुनिया में मिट्टी ही के
सब होते हाथी-घोड़े'
इसे मान सच, बेवकूफ क्यों
माँ को देते छोड़े ?
घोड़े दौड़े सरपट हरपट,
हाथी चले कान कर फटफट,
लड़के लड़ के बोले: 'अम्मा,
देखो हाथी-घोड़े !,
पानी रोक बन्द आँखों में
वह थी गरदन मोड़े !!

❑

१९३८

कपोत-कपोती

होते कहीं कपोत-कपोती !
मैं तिनके चुन नीड़ बनाता,
तू पाँखें फैलाकर सोती !
राज-सदन के पास घास पर बिखरे दाने देख,
तेरा हृदय मचलता, मुख पर खिंचती तृष्णा-रेख,
मैं कहता,-"जा, नीड़ लौट जा, जग छल-छिद्र-भरा,
बिना स्वार्थ के यहाँ एक भी कण न कहीं बिखरा ;
तेरे लिए लिये आता हूँ मैं कुछ दाने खोज,
चला करेंगे वन हम दोनों संग-संग हर रोज,
हरदम पास-पास रहने की
यदि तू है कामना सँजोती !
हम सखि, आज कपोत-कपोती !!"

X X X

फिर तू किसी दिवस हठ करती,-"नहीं सुहाता है वन,
राजसदन के दाने चुगने जाने क्यों मचला मन !"
कितना भी समझाता, पर तू एक न मेरी सुनती,
लुक-छुप कर मेरी आँखों से मीठे दाने चुनती !
तभी पकड़ लेता झट तुझको हँस कर राजकुमार,
ले जाता अन्तःपुर, दरसा रसमय प्यार, दुलार;
बतला, उस झण भी क्या आती-
मेरी याद तुझे ?-तू रोती ?
कहाँ कपोत कि कहाँ कपोती !!

❑

विधवा

किसे सुनाऊँ करुण कथा ?
उनके तो रिपु भी जग में हैं,
पर मेरा क्या कोई ?
बैठ बबूल - डाल पर वन में,
काली कोयल रोई !
जगती जगती के उर में-
सुर-सरि:-कोई गाता रे !
मैं कहती : इस पथ से भी
कोई आता-जाता रे !
हँस-रो जिसे सुना सकती सब-
अपने मन की मौन व्यथा !
किसे सुनाऊँ करुण कथा ?
झुला साँस पर, सुला पलक पर,
व्यथा - बालिका पाली,
बड़ी मुखर, चञ्चल यह निकली,
छली गई मैं आली !
चली जायगी छोड़ किसी दिन,
यह भी विधि की क्रीड़ा !
हो अब किसकी आस, न अपना-
हृदय, न अपनी पीड़ा !

कुल-कलंकिनी धँसे अतल में
-राम-राज्य की प्रथित प्रथा !
किसे सुनाऊँ करुण कथा ?

मैं न बुझूँगी, अमर दीप की-
ज्वाला हूँ, बाला हूँ,
पल भर किसी कण्ठ से लगकर-
छिन्न हुई माला हूँ,
प्रखर धार में पड़ी तरी हूँ,
टूट गई पतवार,
मैं जाग्रत भारत की विधवा,
कुण्ठित असि की धार !

चिता-भूमि की कुसुमित लतिका-
लज्जित, सौरभ - भार वृथा !
किसे सुनाऊँ करुण कथा ?

❑

मुंशी

क्रीत जन-मजदूर 'मुंशी' है हमारा
ढोर, इन्धन, सस्य-सम्पत् का सहारा
लौह-सा काला, चलित चट्टान-सा तन
और मन उसका कि सावन-भाद्र का घन
स्कन्ध तक लहरे चिकुर उद्दाम श्यामल
स्वेद-धूल-पुआल भरकर भी विमल-तल !

जेठ की लू फिसलती नंगे बदन से
फेरता खपरैल रहता मगन मन से
मुसल धार अपार वर्षा हो घुमड़ कर
रोपता वह धान कीचड़-बीच गड़ कर
ठंड से सिकुड़ा पहुँचता भोर होते
अचकचा कर जाग जाते ढोर सोते;
इस तरह हर वक्त 'डयूटी' पर डटा है,
बहुत सुनता, बोलता कम, जो रटा है!

है मगर तकदीर उसकी बहुत खोटी
खा न पाता विहँस दोनों जून रोटी
कर्कशा जोरू झझक कर है झपटती
सामने रख थाल डहकाती, डपटती
सिटपिटा दो ग्रास पानी के सहारे-
लील लेता, लौट आता घर हमारे,
यों लड़कपन से उसे मैं देखता हूँ,
अपरिवर्तित भाग्य उसका लेखता हूँ!

X X X

एक दिन था उर्वशी-वर्णन रहा पढ़
कालिदास-रवीन्द्र- दोनों के गढ़े गढ़-
एक से बढ़ एक; द्वादश गुंजरित स्वर-
सप्त तल में; थे लगे सुर्खाब के पर ;-

-''उर्वशी को रच सका विधु-सा विधाता
डाल ज्योत्स्ना-जाल जो जन-मन फँसाता,
या मदन,शृङ्गार-धार नहा रहा जो,
या मधुर मधुमास हास बहा रहा जो !''
-''वृन्त-हीन कुसुम कि अपने आप विकसित,
उर्वशी उज्ज्वल उषा-सी अनवगुण्ठित ।''
मीच दृग-युग भाव-लोक विलोक उत्सुक
उर्वशी के तरुण चरणों में तनिक झुक
चौंक कर सँभला, गला पहचान परिचित
मुंशियानी थी खड़ी सम्मुख अकल्पित,
बैलगाड़ी ओढ़ साड़ी टाट-जैसी,
पायताना सिर, खड़ी थी खाट-जैसी!
चरमराई : है बड़ा बीमार बेटा,
तीन दिन से चारखाने चित्त लेटा,
कुछ न खाता, कुछ न पीता है; पड़ा है,
क्या भरोसा जिन्दगी कच्चा घड़ा है!
दे सका उत्तर न कुछ तत्काल मैं भी,
किस तरह सकता बता; बेहाल मैं भी,
जो पढ़ा अब तक कि उसका हाल ऐसा-
और जो दे, दे न सकता एक पैसा !
मैं 'बिकरमाजित' नहीं, जिसकी कहानी-
सुन चुकी है ; कौन-सी अपनी निशानी ?
कालिदास ? अरे, उसे वह जानती क्यों ?
जान कर भी हाय ! वह पहचानती क्यों ?
साधना से दूर, कितनी दूर पैसे !
मैं उँगलियों पर गिनूँ दिन-मास कैसे ?
लाल इसका लूटने लुण्ठक खड़ा है !
जानता हूँ ; जिन्दगी कच्चा घड़ा है !!

x x x

एक बार पुकारना मैं चाहता था,
पर किसे ? इसका न रंच अता-पता था !

काव्य को ले वस्तुत: मैं झींखता था,
मुंशियानी से न दर्शन सीखता था !
पेट में दाने नहीं, साड़ी न तन पर ;
किन्तु बादल ज्ञान का उमड़ा गगन भर !
मुफ्त जो मिलतीं दवाएँ, पुत्र जीता,
और जीकर बोलता : पीता न तीता !
किन्तु उसने मुफ्त केवल ज्ञान पाया,
नि:स्व मन भी मानता है : विश्व माया !
ज्ञान-बाण विपन्न प्राणों में गड़ा है !
जानती है : जिन्दगी कच्चा घड़ा है !!
जिन्दगी कच्चा घड़ा है ठीक, नारी,
मैं पकाने को जलाता देह सारी !
तुम जलन लो, ज्वाल लो, चिनगारियाँ लो,
वर्त्तमान समाज को झट फूँक डालो !
जायगा पक जो घड़ा कच्चा अभी है,
जिन्दगी होती नहीं कच्ची कभी है !
आदमी से जानवर उसने बनाया,
खुद रहा ऊँचा, तुम्हें नीचा दिखाया,
तुम रहीं मुहताज, उसने ताज पाया !
जी जुड़ाने को तुम्हें नंगा नचाया !
x x x
भूमि-नभ को मैं मिलाता जा रहा था,
क्या खिजाँ में गुल खिलाता जा रहा था !
मुंशियानी चल पड़ी पर बड़बड़ाती,
शरद की निर्जल घटा-सी गड़गड़ाती !
x x x
खुल गई थी आँख मुँदकर, बन्द होकर,
जगमगाया जग कुहा से मन्द होकर ;
सो गया था भाग्य-भेदी भाव से भर !
जागरण ने स्वप्न भी मेरा लिया हर !!

❑

१९४७

पड़ा सूखा काठ !

पड़ा सूखा काठ !
ठोकरें खाते-खिलाते पहर जाते आठ !
"जब खड़ा था,"-लोग कहते" था बड़ा यह पेड़,
घेर कर रहते इसे थे बहुत बकरे-भेड़;
एक दिन आँधी अचानक आ गई ऐसी-
तड़तड़ा कर सड़ी जड़ टूटी छड़ी-जैसी;
ढेर है तब से यहां यह, बरस बीते साठ ?"
पड़ा सूखा काठ !
ठेस देकर काठ कहता-"सुनो लोगो" और,
"यही फल भोगो, चलो या जमीं पर कर गौर;
काठ किसको काटता ? मत चीखते जाओ,
घर अगर जाना तुम्हें, कुछ सीखते जाओ :
नया कर लो याद, भूलो मत पुराना पाठ।"
पड़ा सूखा काठ !

❑

१९३०

यह बबूल का कटा-कटा-सा पेड़

यह बबूल का कटा-कटा-सा पेड़,
यह बंजर की टेढ़ी -मेढ़ी मेड़,
इस पथ से ऋतुराज भला कब आता ?
वह आता जिस ओर भवन, उद्यान,
कोकिल- कलरव - कम्पित लता - वितान,
मधु- विह्वल को रूप, रंग, रस भाता !
वह आता मुख देख सुरेख सदैव,
मूर्त कर्म - फल को क्यों भाए दैव ?
जीवन को यौवन का भेद बताता !
अश्रु नहीं, स्मिति से है वह सुख पाता !!

❑

अश्वत्थ

(१)

अश्वत्थ खड़ा है आज भी !
जो भी पौदे सम-सामयिक रहे इसके,
वह एक-एक कर अब सब के सब खिसके !
वह जुही, माधवी, बेला की फुलवारी,-
महमह करती केसर की क्यारी-क्यारी,
जो बाल रसाल, तमाल तरुण थे घेरे,
हर पंछी जिनकी डाल-डाल से टेरे,
घर-घर जिनकी थी चर्चा साँझ - सबेरे
जल्दी-जल्दी जो बढ़े, चढ़े सुर-सिर पर,
मुरझा - मुरझा कर मरे, अरे ! गिर-गिर कर !

कारण, वह खुद न बढ़े थे, गए बढ़ाए,
सींचा करते माली दिन भर मुँह बाए,
गड़ जाए डीठ न वन-पशुओं की उन पर-
घेरे जाते तीखे काँटे चुन-चुन कर
पड़ जाए धूल न मुकुल -फूल पर उनके-
माली रखवाली करते पक्के धुन के,
होता प्रचार उनका हर प्रदर्शिनी में,
उनकी सुगन्ध उड़ती अम्बर-अवनी में !
अफसोस ! मौसमी हवा संग वह आए,
कुछ दिन इतरा, रख सर पर पाँव, पराए !
अश्वत्थ खड़ा है आज भी !

(२)

सह सकी न कदली बदली - ऋतु की आँधी,
प्रिय बाल - बल्लरी बिछड़ी तरु - उर - बाँधी,
वे थोड़े, जो सहते झञ्झा के झोंके,
जो मीच - बीच जीते मृत्युञ्जय होके !

क्या कुन्द-कुसुम आतप में तप फूलेगा ?
या लोध्र - विटप पावस में हँस झूलेगा ?
चाँदनी शरद की देख कनेर हिले क्यों ?
सूखे शिरीष को शिशिर - तुषार मिले क्यों ?
कोमल कदम्ब क्यों भला आग से खेले ?
क्यों अमल कमल हैमन्त -हिमानी झेले ?
अश्वत्थ किन्तु आँधी, झंझा या पवि क्या ?
वर्ष क्या, हिम क्या, आग उगलता रवि क्या?
सब सहता मुसका - मुसका कर, हँस-हँस कर,
जब सब तरु कहते : "त्राहि - त्राहि, बस, बस कर !"
जब और-और पादप बन ब्रीड़ा - वामन,
धँसते - से जाते कम्पित-तन, व्याकुल- मन,
तब और-और अश्वत्थ उठाता है सिर,
ज्यों स्वर्ग - धरा - सम्मिलन - साधना में स्थिर !
सब फिसल गए स्वर्गीय सीढ़ियां चढ़कर,
सब पिछड़ गए ऊपर उठ-उठ, बढ़-बढ़ कर !
अश्वत्थ खड़ा है आज भी !

(३)

"मुँह में कोमल कोंपल की सीटी ले लो,
बालक हो ! आओ, घनी छाँह में खेलो !"
"दुपहर में, डालों में झुक झूले डालो,
लो, साँझ हुई, बालाओ ! दीपक बालो !"
"साध्वी सुहागिनो ! रँगे सूत्र हँस बाँधो
कर प्रदक्षिणा गार्हस्थ्य-साधना साधो । "
"पशुओं को दोगे ? हरी पत्तियां तोड़ो,
हो श्रान्त पथिक ? मत शीतल छाया छोड़ो !"
"गाएँ चरती हैं, ग्वाल - बाल ! तुम आओ,
श्रम-बिन्दु पोंछ टुक वंशी यहाँ बजाओ !"
"इन्धन की तुम्हें जरूरत ? डालें काटो,
मत रार बढ़ाओ, भाग बराबर बाँटो !"
"नटखट लड़के ! हैं उधर घोंसले हर पग,
हाँ, सँभल-सँभल कर चढ़ो, न हों पग डगमग ।"

"भूखो ! लघु-लघु मीठे-मीठे फल खाओ,
कोई न रोक, वह टहनी और झुकाओ !"
तरु भी होता है क्या स्वार्थी मानव - सा ?
इससे तुम बरतो देव या कि दानव -सा !
इसका क्या अपना ? है सर्वस्व तुम्हारा !
तप का अवमूल्यन करते अग-जग हारा !
अश्वत्थ खड़ा है आज भी !

(४)

जूझो भी; क्यों भागे जाते जीवन से ?
तन से न शान्ति मिलती, मिलती है मन से !
जीवन का अर्थ न आत्महनन हो सकता,
रो-रो कर कोई कैसे दुख खो सकता ?
यह वयोवृद्ध अश्वत्थ कहे क्या तुमको ?
शिशु हो तुम, इसके आगे नाचो, ठुमको !
दिन बीते, बीते कितने वर्ष, महीने,
देखे इसने जितने युग, नहीं किसी ने !
इस दीर्घ - काल - व्यापी जीवन ने जाना :
कैसे जी पड़ता नहीं कभी पछताना !
रूठते नहीं सब से, चुप हो, मत चीखो,
अश्वत्थ - पदों में बैठ सहज कुछ सीखो :
"मत डरो किसी से, और न कभी डराओ,
सिर झुका-झुका कर उन्नत हृदय बनाओ !"
जो एक बार आया वह फिर - फिर आया,
विश्राम - धाम अतिशीतल इसकी छाया !
सब के सुख के हित इसकी बाँहें फैली,
चैतन्य - सदृश इसकी जड़ क्यों हो मैली ?
होता स्थिर चित, भ्रम थमता, घुलती माया,
अविचलता का प्रतिमान गगन नियराया !
-अश्वत्थ खड़ा है आज भी !

❑

१९४१

खामोश आवाज

मैं इस स्वतन्त्र भारत की टूटी कुटिया में हूँ धुनी रमाए,
बुझी-बुझी सी, धुआँ उगलती, ढिबरी एक जलाए !
चार मित्र हैं, -चित्र पिकासो के प्रयोग के,
बिना बात की बात; कहकहे, फाकामस्ती,
टूटे-फूटे बोल बोलते, छाल छील,-छिलके उतार कर,
बेकारी, लाचारी पस्ती से लड़-लड कर कटे कटे
इन्हें छोड़ कर कहीं नहीं जाऊँगा-
चाहे रौरव हो,
चाहे वह स-सुर स्वर्ग हो !
हृदय-हीन निष्प्राण प्रेम की तुतली बोली;
ठंडी छाँह-अबोध बाँह की लचती टहनी;
मीठी मरियल गूँज, अभागा भाग्य एकरसता का,
कर्म-कान्ति से हीन मन्द गति लक्ष्य-हीन चरणों की,
फूलों का तन, भौंरों का मन; तिमिर विशिख-
जाग्रत प्रकाश की प्रत्यञ्चा पर चढ़ा हुआ-सा -
-स्वर्ग नहीं जाऊँगा मैं श्रम-बिन्दु पोंछ कर !
चौकी तीन टाँग की, बैठो तो हिचकोले खाए;
स्प्रिंगदार गद्दे वाला शाही पलंग भी,-
कहते है, ऐसे ही लचक-लचक जाता है !
ऐसी ही झुरझुरी समाती उस पर रखते पाँव !
म्याऊँ-म्याऊँ करती बिल्ली निकल गई यह एक,
ऐसे ही तो मोर बोलता होगा अलका में भी-
ताल-ताल पर यक्ष प्रिया की नाच-नाच कर !
बस यूँ ही आ गई ;
नहीं आती अलका की याद,
जिसे करता कुबेर आबाद,
जहाँ पर मिलते ऐसे दोस्त नहीं दिलदार

कि जो हों फटेहाल, पर अलमस्ती से चूर !
घर में पत्नी वर्षों से बीमार,
कटते-कटते एक कला बच गई चाँद की !
आम्र-मंजरी पीत पत्र पर झुकी हुई रे,
झिकमिक-झिकमिक करती ढिबरी,
इतना वाष्प-धुआँ, कितनी रोगिनी रोशनी !
कैसे घी के दिए जलाऊँ ?
मैंने गला नहीं घोंटा मासूमों का,
और मरभुखों के टुकड़े भी नहीं चुराए,
लाचारी में भी न उठाया लाभ मत्त प्रभुता का,
घूस न खाया कभी चोर बाजारी का,
गिन-गिन पैर रखे धरती पर,
अलल बछेड़ा बना रहा, अमचूर हो गया !
उजड़े-बिखरों की पुरनम खामोशी में बेनिशाँ खो गया !
गद्दारी की नहीं देश से !
पर इससे क्या ?
देश-भक्ति औ' गद्दारी तो साथ-साथ चल सकती थी !
मैं विदेशियों का होता जासूस,
राजदण्ड औ' राजछत्र के संरक्षण में-
उपजा सकता था जनता के खेतों में साहित्य !
भारी भरकम भाव चाव से कौन चाहता ?
हल्की-फुल्की, चिकनी-चुपड़ी,
हुई -अनहुई,
अखबारी, कतवारी बातें सारी-
मैं परोस दे सकता था प्यारी जनता के आगे !
और नहीं तो नारे देता गला-फाड़ जोशोखरोश के !
और तराने कुर्बानी के गा सकता था रहस-विहँस कर !
नया जमाना, सुना शहीदों का है !
और शहादत के मानी है ऐशोइशरत;
शोहरत औ' आराम, चैन की वंशी !

❑

जन्मदिन १९५४

उदय के पथ पर

केवल चलना ?
ऐसी भी क्या प्रगति ? पार करना पथ केवल !
कल न कहीं, न कहीं विराम, विश्राम न तरु-तल,
चञ्चल पग मग पर धरना भर, लक्ष्य असम्बल,
यह जीवन-यात्रा कि आत्मवञ्चना कि छलना ?

केवल चलना ?
जीवन कभी भरमता, रमता कभी कहीं है,
यह जीवन का प्राकृत क्रम है, सहज प्रगति है,
स्थिति में गति दिखलाई देती सतत यहीं है,
जो यह जीवन नहीं, और वह कहीं नहीं है !
अन्धकार हो दूर न, छाए ज्योति न,
आए जो आनन्द न आत्म-निरीक्षण का प्रकाश में,-
तो दीपक निःसार कि निष्फल उसका जलना !

केवल चलना ?
प्रगति तभी जब गति में हो आनन्द,
गति में तब आनन्द कि जब हो रुकने का अवकाश,
रुकने का अवकाश कि दाएँ-बाएँ
निरखे-परखे जब-जब उग आएँ छायाएँ :-
आम्र-बौर-सी स्वर्ण-ताम्र, पिंगल बदली-सी दुपहर की,
लाल प्रवाल बाल-सी, नीली इन्दीवर-सी,

धानी औ' चम्पई, सुरमई, चितकबरी, मटमैली, धुँधली छा जाएँ छायाएँ !
या कि पवन जब मन्द, गन्ध से आकुल,
चुपके से छू जाय देह से, लगे गुदगुदी, जगे पुलक,
झिप जाएँ पलकें !

गिरे दौंगरा जब असाढ़ का पहला,
धरती का उच्छ्वास अकास चढे,
बढ़े हौसला अश्रु पिए का, गर्मी के मर्मी का,
मुए-जिए का !

कढ़े प्राण ही; गान गगन का, मान मगन का,
तान बने कजली की !

शबनम-न्हाई कुई अनमनी ऊँघ रही-सी चल डंठल पर,
और चाँदनी बिछल रही-सी जल के तल पर,
हो कि बावरी भरी बावली, शरद-जुन्हाई में न्हाई - सी,
ज्यों ही हौले लिपटें लहरें कूल-दुकूल से,
त्यों ही धँस जाए मन गहराई में तन्हाई की,-
शरद-जुन्हाई की झाँई की !
और उठे फिर, नव उछाह से, नव उमंग से चले,
चढ़े फिर गिरिशिखरों पर हिम से ठिठुरे,
या लू से अध - जले, लहकते !
और लक्ष्य मिल जाय सहज या पड़े कि गलना, जलना !
केवल चलना !

किन्तु कठोर प्रश्न इस ठौर,
जटिल समस्या, ग्रन्थि विषम, उलझन, मकड़ी का जाला,
सम्भव कहां क्रमिकता जग-जीवन में ?
है अवकाश, विराम सुलभ क्या सब को ?
थकन मेटता अगर स्वेद से लथपथ
वह अतिरिक्त, अभीष्ट, सुखद विश्राम भला क्या ?
कहाँ मिले अवकाश हास-उल्लास से भरा
आकाङ्क्षित आनन्द भले हो जीवन का आदर्श,
पर यथार्थ सर्वथा विषम है : अक्रम श्रम है !
थकी देह राहत पाती है मृत्यु-गेह में !!

मृत्यु - गेह से थकी देह को लौटाने को-
अभी जूझना होगा जग-जीवन को !
पाने को अवकाश, दूर को पास बुलाने को,
कोमल सपनों को यथार्थ के ठोस पालने पर बिठलाने ओर झुलाने को,
भूली हुई अछूती जो आनन्द रागिनी
उसे बाँसुरी में आत्मा की दुहराने को,
पुंस्कोकिल का कलकूजन सुनने को कुसुमोद्यान में-
अभी जूझना होगा जग-जीवन को !
नंगी काया ने लू-लपटों-सी झड़ियाँ तो झेलीं सौ-सौ बार,
पर फुहार, रिमझिम फुहियों से,
आँखमिचौनी से बादल-बिजली की,
भरे ताल से,
हरी लहलही डाल - डाल से ;
उलझाने को आँखें पांखों से मयूर की ,
पीने को दूधिया चाँदनी नील गगन से छनती,
जीने को क्रम से वसन्त, बरसात, शरद में
अभी और अक्रम श्रम करना होगा !

तरना झरना, झील, कर्दमित पल्वल, सर, सरि, सागर,
और रौंदना पर्वत की पत्थर की छाती,
पङ्किल कछार, ऊँचे कगार, कितने पठार,
घूमते हुए मैदान कि रेगिस्तान,
खोह औ' खेत से परे,
अरे, क्षितिज पर अभी पहुँचना शेष !
अविश्राम, अविराम मुसकुराती आभा जो दूर,-
बुलाती झिलमिल किरणों से चौरस में तंग दायरा छोड़,
उषा है वह भावी की !

❑

१९५०

जीवन-रचना

जीवन की रचना !
(अद्‌भुत नीलम-नील गगन;
अद्‌भुत रवि-शशि; अद्‌भुत उडुगन;
अद्‌भुत सप्त कुलाचल;
अद्‌भुत नित लहराते सप्त सिन्धु रे,
पर, अद्‌भुततम जीवन-रचना !)
सप्त वर्ण घुलकर सुवर्ण हों,
विकच कुसुम हों, ललित पर्ण हों-
पृष्ठभूमि में;
और, चेतना
उभरे सुघर, सुरेख, सुछवि बन;
तन्मय हो लख अनमना !
सुन्दरतम को भी पड़ता है आलोचक आँखों में जँचना !
विरस-साधना-साध्य सरस जीवन की रचना !!
हिंसा, द्वेष, लोभ, भय, ममता,
विनय, वीरता, संयम, समता,
अहङ्कार-मद, प्रणत साधुता,-
विप्रतिषेध, द्वन्द्व, उत्पात,
चिर-विचित्र मानव-प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात,
विप्लव औ' विक्षोभ सचेत, सजग प्राणों के चिह्न;
किसे मेट कर, क्या समेट कर यह विराट मर्य्यादित होगा ?
कितना तम, कितना प्रकाश हो ?
विधि-निषेध, उल्लास - त्रास हो ?
अपनाना हो किसे और हो किससे बचना ?
जटिल समस्या-पूर्ण सरल जीवन की रचना !

निर्विरोध हो , निर्विकार हो,
हो निश्चेष्ट, निरापद औ' निर्जीव !
अरे, यह जीवन ?
नि:स्तब्धता निविड़ता ?
निर्जनता प्रशान्ति क्या ?
है निवात निष्कम्प प्रदीप-सद्दश मन ?
या निष्क्रियतम ?
निस्तरङ्ग सरवर या निश्चल प्रस्तर ?
जड़ता और शान्ति की शोधक
रेखा-रेखा,
तन्तु-तन्तु को अलग-विलग कर
देखा है क्या?
फिर भी जँचता जड़ का तनना औ' चेतन का लचना?
कठिन कठोर क्रूर कर से रे कोमल जीवन रचना !
गढ़ने का आवेश तो नया,
पर न कहीं हो गढ़न पुराना !
या कि विकृत, अनुकृत हो किसी सुकृत का ?
या अजगर संस्कार निगल जाए शुचि रुचि को?
नियम, शृंङ्खला, अंगन्यास,–पूर्णता–प्रकाशन–
चमत्कार अभ्यास मात्र का हो अनात्म-सा ?
निर्विवेक भावुकता का उमड़े प्रवाह या ?
फड़के प्राकृत पंख, जायँ उड़ सत्य और शिव !
संयम औ' प्रेरणा; लब्धि औ' चिर-परम्परा,–
दो ज्वालों में मौलिकता का गलना-पचना !
कृच्छ, मिश्र उपकरणों से रे मौलिक जीवन-रचना !!

❑

२२.१.१९५५

विसर्जन

धुँधले क्षितिज के पार से
आते हुए जगमग सजग का
मौन स्वागत कर रहा हूँ !
जो सवेरा आ रहा –
ताप अपना, किरण अपनी ले अनोखी,
मैं खुली आँखों निहारूँगा उसे, अनिमेष,
जानता हूँ – वह तुम्हारा,
वह न मेरा,
पर सवेरा तो सवेरा !

X X X

देख पाए थे कहाँ तुम आह! मेरा प्रात !
हरे कुहरे में कनक – अवदात,
पङ्क के उर-अङ्क में अलि-सुर-सजल जलजात !
वह कहाँ था सघन ताल- तमालवन-
झकझोरता – सा प्रबल झञ्झावात !
एक हल्का – सा झकोरा
तैरता पतली हवा का,
द्रुम नहीं, मोती-भरा सिहरा कि विद्रुम-पात !
था नहीं संगीत वह अनधीत,
वह गाया गया था !
आज जो लगता सुदूर अतीत,
तब आया नया था !!
था कथा-सा श्रव्य क्या वह प्रथम दिन भी ?
आज जो हो !
प्रात था वह प्रात मेरा, सुना तुमने?
आज जो हो !!

X X X

कह चुका हूँ यह सवेरा तो न मेरा,
पर सवेरा !
मैं इसे भी देख सकता हूँ
कि दुहरा भाग्य मेरा !–
ये ललौंहें गगन में उभरे, अदेखे–
रंग – रेखा – हीन चित्र विचित्र,
अनसुनी यह लय – नए आयाम से फूटी
अजित मन की स्पृहाओं के,–
ये अजाने औ' अदेखे सब मुझे प्यारे !
मैं किनारे का रहा गायक
भँवर – मझधार के आघात के पर–
स्वर मुझे प्यारे !!

X X X

स्वप्न था वह स्वप्न,
रीता आह ! बीता !
अग्रगामी, स्वप्न यह भी,
अग्रतर से जायगा जीता !
सत्य कहते तुम जिसे, मैं स्वप्न कहता हूँ,
तुम बढ़ो आगे, तुम्हारा वेग–
तट – सटे पाषाण – सा प्रण ठान सहता हूँ !

X X X

परशु धारा था कभी क्या,
क्यों कुपित हो राम ?
लो , सँभालो, आज से
लूँगा न अपना नाम !

❑

१९.१.१९६१

देश हमारा

टुसिआए पाकड़ पर
बैठ कर भुजंगा
बोल रहा ठाकुरजी,
देख रहा दंगा ।

भावों की मार-काट
मिली-जुली भाषा
तंगदिली, संगदिली,
पट्टी औ' झांसा ।
स्रोत सियासी कि गोत
नहा रहे गंगा ।

टकटकी अपरिचय की,
लिजलिजी उदासी,
कुछ खुमार अंगड़ाई,
नींद-सी छमासी ।
अनसुनी सदा, गुणी–
लगा रहा अड़ंगा ।

कलमल करते नथुने
गन्ध सड़ायन्ध,
खून गुनगुनाता
क्यों खूंटे, क्यों बन्ध ?
टूंग-खुटक तिनका
किनका न बैल चंगा ।

नक्शे में फस्ल-भरे,
हरे खेत खींचों,
खून-पसीने का क्या,
रंगों से सींचों,
देश हमारा न दिखे
भूखा या नंगा ।

❑

अवन्तिका

पतझर-मर्मर में चिर वसन्त की रानी,
तेरी सुधि रिसती पीर उभार पुरानी !
तेरा अतीत संगीत स्वदेश-विभव का,
पार्थिव प्रतीक संस्कृति के स्वगोद्भव का
चौसठों कलाओं के प्रकाश से भास्वर,-
वह युगातीत युग का निर्माण अनश्वर,
बन रहा आज नत नयन-नयन का पानी !
पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी !
वह चन्द्र-चुम्बि-चूड़ाएं, मन्दिर मन्दर,
मणि-खचित दण्ड में कनक-केतु फर-फर-फर,
मधुमास-मरुत से 'दक्षिण' उनके वासी,
सुन्दर-आकृति, शिव-प्रकृति, सत्य विश्वासी,
निर्मल छाया का था प्रकाश अभिमानी !
तेरी सुधि रिसती पीर उभार पुरानी !
रत्नों की खनि-सी विपणि; ग्राम आश्रम-से,
क्रय विक्रय ? नहीं, समन्वय सुख का श्रम से !
वे सस्य-श्याम भू-ग्राम, नगर रत्नाकर,
शाश्वत संस्कृति के स्रोत, सभ्यता-आगर,
अपने अतीत का वर्त्तमान क्या ध्यानी ?
पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी !
तेरी विभूतियां थी, गुणाढय सा कवि था,
शारद अम्बर का कालिदास सा, रवि था,
तेरी आत्मा का गोपन-धन आलोकित,
वह असम वाण, औ' तेरी सुषमा कुसुमित !
अब शून्य भित्ति है, मूढ़ खड़े छवि ज्ञानी !
पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी !
फनफना रहे हैं पत्र-पत्र के नत फण,
फुफकार रहा है सौरभ-विकल समीरण,

हिममय गभीरता, ठिठुर रहा दिङ्मण्डल,
नभ की आत्मा में गहरा कुहरा निश्चल,
क्षिति पर छाई कँपकँपी, जलन अनजानी !
पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी !

गुदगुदी लगाते नयन छलछला जाते,
बँधने लगतीं हिचकियां एक पद गाते,
जीवन घन-संचित वाष्प; मृत्यु की छाया,
जीवन अर्जित अभिशाप; ताप की काया,
सुख और शान्ति तो जैसे कथा-कहानी !
पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी !

तनने वाले सीने को छेदा जाता,
उठनेवाला सिर कट कर भू पर आता,
सच कहनेवाले मुँह को सी देते हैं,
अब बाज कबूतर के अंडे सेते हैं !
धार्मिक, सांस्कृतिक हुए नर-भक्षक प्राणी !
पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी !

इस अन्धकार में थर्रा रही किरण है,
वह बीन व्याध की, यह बेचैन हिरन है,
धूसर अंचल पर धुन्ध, बना ली नीली,
यह घुटन ! पिघल, ढल, ओ आत्मा बर्फीली !
अन्तस् में ऊमस, ललक रही है वाणी !
पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी !

हड्डियां चिचोड़ी हुई, कंक मानवता,
काई से छाई पंकिल सुरसरि-सिकता !
झुर्रियों-भरा इतिहास हँस रहा हम पर—
ढालू चोटी से फिसल गिरा रवि तम पर !
वह कौन गा रहा संसृति आनी-जानी ?
पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी !

❑

शिप्रा

मेरे मेघ, दूत बन जाओ कालिदास के देश,
कहना 'श्रुति-महती सरस्वती' का इतना सन्देश :–
प्यारे, तुम नन्दन -वन में बस भूल गए निज लोक
जहाँ मिलन-छन में विरहातुर होते कोकी-कोक !
एक झकोरा मलयानिल का देता लगा अनल है,
प्यासे रहते प्राण, नयन से बहता जल छल-छल है !
कुसुम-चषक में प्रिया-सङ्ग ही मधु पीता है भृङ्ग
परस-निमीलित-दृगी मृगी को सहलाता मृग- शृङ्ग
सुन्दरियों के 'आसिञ्जित-नुपूर' -चरणों से मञ्जुल
दिशाकाश-व्यापी विकास को व्याकुल रहता वञ्जुल !
मुख-मदिरा पी मौलसिरी कलियों-कुसुमों से भरती
तरु-गुल्मों की रसिक-हृदयता मुनियों का मन हरती !
जहाँ प्रेम-धारा जीवन के सुख-दुख के कूलों को
प्लावित करती, क्षमा-कुसुम से ढक लेती भूलों को !
प्रात विदेश पधारे पति के लिए जहाँ की नारी
तनु-तनु तुनुक-तूल हो जाती, लगता जीवन भारी !
'गृहिणी सचिव, सखी, प्रिय-शिष्या'-पत्नी परी नहीं है,
रम्भा-रसिक, विचारो तो वह क्योंकर मरी नहीं है !
कर में लीला-कमल, अलक में झलक कुन्द-कलियों की
लोध्र पराग-राग-रञ्जित मुख, वेणि,-श्रोणि अलियों की–
नव-कुरवक-कुसुमों से दोलित, कर्ण शिरीष-सुशोभित,
प्रिय कदम्ब सीमन्त-घटा पर लहराता हो लोभित !
सुरभि-भरी रंगीन साड़ियाँ, उफनाता मधु मादक,
किसलय-कुसुम, -तरङ्ग-भङ्गिमय अङ्ग अनङ्ग-प्रसाधक !
ललित अलक्तक चरण-कमल की सुषमा का सम्भार
एक कल्प-तरु जहाँ कोटि कामिनियों का शृङ्गार !
ठंडी-ठंडी हवा, लिए हल्के-हल्के जल के कण,
पारिजात की छाँह, प्रिया की बाँह गले में रह घन,

सोने की सिकता में रत्न छुपाने-जैसी क्रीड़ा,
कैसे आए याद तुम्हें तब निर्मम, मेरी पीड़ा !

(२)

मेघ, दूत बन जाओ मेरे कालिदास के देश,
कहना हतभागी कविता का इतना ही सन्देश :–
मुझे मर्त्य के लिए छोड़ कैसे तुम स्वर्ग सिधारे
मैं मनमारे तारे गिनती, तोड़ रहे तुम तारे !
युग सहस्र वर्षों से बैठी करती रही प्रतीक्षा
मेरी मुई अमरता की तुम लेते निठुर परीक्षा !
कहाँ स्वर्ग से बढ़ कर सुन्दर धरणि बनाने का ब्रत,
और कहाँ तुम कान्ति वहाँ की देख हुए प्रतिभा-हत !
अनासक्त कवि, भोग-कामना से भूले निर्वाण ;
देख शान्ति की रचना भूले रचना का निर्माण !
पुण्यार्जित पा लोक गए तुम जन्म -भूमि को भूल,
सौन्दर्य्योपासक, सुन्दरता तव चरणों की धूल !
भीगीं, चिपकीं पाँखें मधु में, मधुकर -गुञ्जन बंद,
तभी सभी कुसुमित कानन में मधु का उत्सव मंद !
अनाघ्रात क्यों पुष्प रहें, जब चाहा सौरभ -सार;
रत्न न कैसे बिँधे, चाहिए तुम्हें हार - शृङ्गार !
किन्तु सुनो, सुख-स्वर्ग से नहीं मुझे रंच भी बैर
सुर - उर - चन्दन नन्दन-वन की सौरभ- भीनी सैर !
सखे, मुझे तो आज तुम्हारी जन्म-भूमि का ताप
चक्र-नेमि-क्रम दशा-विपर्य्यय, हुआ हाय ! वर शाप !
आज राम-गिरि के आश्रम की चौड़ी छाती चीर,
धूम्र-यान चलते, उसाँस - सी बहती उष्ण समीर !
पङ्क-शेष सर, सरि सिकतामय, कूल वबूल-हरे हैं,
पाण्डु वदन षोड़शियाँ, पनघट श्वापद-चिह्न-भरे हैं !
मानव के मानस के रस का स्रोत गया है सूख,
भाव 'पिपासा-क्षाम-कण्ठ'' है, भाषा जलती भूख !
गया शील, शालीनता गई, हृदय स्वार्थ से अन्ध;
प्रेम बना व्यवहार, कला दुःखान्त, यौन सम्बन्ध !

बैठे दिल में हूक उठाती अब न पिकी की कूक,
'अमिय-हलाहल' रहा न विधु में, मधुकर-शर न अचूक !
परिधूसर-युग-वसना, बाँधे एक वेणि सोच्छ्वास,
दीर्घ विरह-व्रत पालन करती कौन मिलन की आस !
द्रुत-गति से चल रहा उर्वशी के अन्वेषण का क्रम
पर पुरूरवा का गगन-घन-भेदी कहीं पराक्रम !
पहुँच गया दुष्यन्त स्वर्ग जिस पावन परम प्रणय से
मानव आज घृणा करता सुत-सन्ततिमय परिणय से
प्रेम हुआ पर्य्याय पाप का, पुण्य साधना स्वार्थ,
मधुशाला-आलाप आज चिन्तन करना परमार्थ !
भूति-राशि में सत्य अनल-कण सा है गया छिपाया,
गल-हस्तित शिव, विश्व-विजयिनी केवल सुन्दर माया!
यन्त्र चेतना-मन्त्र फूँकते, मानव जड़ सा सुनता,
क्या पर-तन्त्र तन्त्र पशुता का ! नर फिर-फिर सिर धुनता !
सब कुछ सुलभ हुआ जड़-युग में, मूल्य का न कुछ मान,
दुर्लभ सखे, तुम्हारा केवल प्राण-विमोहन गान !
रक्त-पिपासा ! मानव प्यासा मानव के शोषित का,
वृद्ध-धरित्री-भोग रोग, औषध जन-यौवन-हित का !
आज वज्र-गर्जन में बजती अमन चैन की वंशी,
वक-वकियों का पक्ष प्रबल, उड़ गए हंस औ' हंसी !
बादल में बिजली क्या, पानी में धधकी है आग,
झञ्झा में झोंकों में जलता स्नेह-विहीन चिराग !
वक्र शक्र-धनु तना, अवनि का थर-थर जर्जर गाात;
बरस रही हैं लाल-लाल बूँदें, कैसी बरसात !
निरपराध सिर काट, रक्त के अश्रु बहाती असि है,
लिखे विश्व इतिहास नया, प्रस्तुत वैज्ञनिक मसि है !
स्वर्ण प्रसू -भू - कृषक रो रहे हैं दाने - दाने को,
श्रमिक नारियाँ देह दिखातीं देह छिपा पाने को !
युवती माँ की सूखी छाती चूस शान्त शिशु होता,
देती फाड़ कलेजा धरती, आसमान है रोता !

ढँढ़ निकालो सुषमा, कवि ओ, आद्य सृष्टि के स्रष्टा !
देखो अपनी मातृ-भूमि की दशा, कान्त के द्रष्टा !!
उतरो भू पर, ऊपर है क्या ? हृदय-हीन वह व्योम !
जननी जन्म-भूमि की लज्जा दिखलाते रवि-सोम !!
ठुकरा दो, जो मत्त बनाती तुम्हें स्वर्ग की हाला,
पिओ शैव कवि, लिए खड़ी मैं हालाहल का प्याला !
अक्षर-ब्रह्म ! विश्व व्याकुल है, ग्रहण करो अवतार ;
श्यामा माँ के वक्षःस्थल में नवल दुग्ध सञ्चार !
आओ, दिङ्मण्डल प्रसन्न हों, शीतल, मन्द, सुगन्ध-
रह-रह बहे समीरण फिर-फिर सदानन्द, स्वच्छन्द !
दैवी औ' मानुषी आपदाएँ टल जायँ अनन्त,
तुम आओ, उजड़े उपवन में आए अमर वसन्त !
द्वेष दम्भ से झुलसे प्राणों को दो प्रेमल गान
दुःख - दैन्य - जर्जर शरीर को अक्षय यौवन दान !
"बरौं सम्भु नतु रहौं कुमारी" रचो सती-सी नारी,
शिशु मृगेन्द्र के दन्त-परीक्षक निर्भय पद-सञ्चारी !
रघु-सा धीर, राम-सा धन्वी, सिरजो सुर-सेनानी,
सुन जिनकी हुङ्कार विनत हो असुर महा-अभिमानी !
पर-उपकार, त्याग-हित निश्चित नितप्रति सम्भृत वित्त,
क्षार करो वासना - प्रेम को, तपःपूत हो चित्त !
नियति-नियम से परे अरे, तुम नित्य अनागत-गत में,
स्वर भरते हो नित्य-नित्य नव-नवल अनाहत 'गत' में !
हो विभेद क्यों, स्वर्ग - धरित्री गले मिलें सानन्द,
रचो-रचो कवि, एक बार फिर मन्दाक्रान्ता छन्द !
आओ, तुम्हें पुकार रही है भूमि तुम्हारी प्यारी,
हँस-तप, रो-धो, काँप-ठिठुर षड्ऋतुएँ बारी-बारी !
पुच्छ-गुच्छ फैला मयूर नाचे पुलकित - चित गात,
तुम आओ, फिर उमड़-घुमड़ बरसे सरसे बरसात !
हरे खेत, खलिहान भरे, छेड़ें किसान-गन तान,
तुम आओ, आ जाय हाय ! सूखी मिट्टी में जान !

आओ, तुम्हें पुकार रहा है विपद-दलित यह देश
सब लुटने पर भी जिसके उर सुमधुर आशा शेष !
युद्ध - हताहत - विश्व - प्राणि अपनाएँ प्रीत पुरानी,
तुम आओ, पीड़ित मानवता पाए मार्मिक वाणी !
एक वेणि पतली धारा से, पतित पत्र से पीली,
अपलक निर्विन्ध्या निहारती, चितवन गीली - गीली !
पारतन्त्र्य-शृङ्खला- बँधी, मुँह बंद किए रसवंती -
करुण कटाक्षों से आमन्त्रित करती तुम्हें अवन्ती !
चिकुर-निकर-संस्कार-धूप-धूमिल-सौरभ प्रासाद-
बँधी हिचकियों से पुकारते, मर्मान्तक अवसाद !
आओ शैव महाकवि, देखो त्रिभुवन-गुरु का धाम,
गन्धवती-जल नयन-अनल से शोषित, अब विधि वाम !
पीले पत्तों के स्वर से कहते हैं प्रिय उद्यान-
हाय, भक्त कवि, बन बैठे तुम आज स्वयं भगवान !
बर्र और चमगादड़ से बिँध महाकाल का मन्दिर
स्वप्न-सान्ध्य-आराधन के क्षण उन्मन होता फिर-फिर !
पारावत क्या कौशिक का घूत्कार, क्रोष्टु-क्रेंकार,
आज तुम्हारे महाकाल की पूजा का शृङ्गार !
इसी दैन्य, दारिद्र्य, अकिञ्चनता के बीच पधारो ;
दिव्यकरों से महाकाल नीराजन - थाल सँवारो !
अपनी संस्कृति,-सुर-दुर्लभ मानवता का दृढ़ मूल,
जब तक सबके सब न सके हैं एक बार ही भूल !
वर्ण और आश्रम युग-आहत शत-शत सह उपहास
बन पाए जबतक न विदेशी लेखक का इतिहास !
कहलाती जो रही मही-तल की पीयूष-झरी है,
शान्तं पापम्, अमर-भारती जबतक नहीं मरी है !
आओ तभी,-अभी ही, ले सुख-शान्ति-सनेह-सुगन्ध,
स्वर्गङ्गा से तृप्त, तुम्हें है शिप्रा की सौगन्ध !

❑

चण्डीदास के प्रति

मानव सर्वोपरि कहते हैं चण्डिदास औ' व्यास;
मैं कहता, यह सही नहीं, ऐसा कैसा विश्वास !
पीर पाल कर प्राणों में, आँखों में भर कर नीर,
पथ निहारता रहता जिसका मानव अधिक अधीर !
सिंहासन तज जिसे ढूँढ़ता राजा बना फकीर,
जिसे प्रकट करने को देता विकल उरस्थल चीर,
वह है कौन ? अरे, उसका भी नाम रतन अनमोल,
गुञ्जाफल के संग तुला पर उसे तो न यों तोल !
वन वन उपवन कुञ्ज कुञ्ज में भटक रही बेहाल,
मीरा सर्वोपरि न सत्य, वह तो गिरिधर गोपाल !
कोटि वैरियों सदृश स्वजन को निर्ममता से छोड़,
जिस अज्ञान से प्राण प्राण का लेते नाता जोड़ !
एक मात्र वह सत्य-प्रणय का पात्र, और सब झूठ,
ज्योति-धार देखी न तिमिर पर, दिखी खड्ग की मूठ !
अपनी 'रामी' को गायत्री माता का दे नाम,
क्या बतलाया कवि, तुमने-माया सच्ची या राम ?
सर्वोपरि वह सत्य नहीं, है जहाँ आवरण इष्ट,
तिक्त वहाँ निश्चय कुछ होगा अरे, जहाँ कुछ मिष्ट !
सर्वोपरि वह सत्य कि जिसकी तुमने की थी शोध,
ठुकरा दी समाज-सत्ता, कर प्रेम महत्ता बोध !
धूल उड़ाते चलते हैं जो पूज्यपाद-समुदाय,
धर्मकोष के चित्रगुप्त लिखते जो व्यय औ' आय !

धर्म-कर्म का मर्म जिन्हें राई-रत्ती तक ज्ञात,
वेद-वाक्य से बड़ी कि जिनकी छोटी-छोटी बात !
रौंद दिए उनके मनसूबे, किए हौसले पस्त,
जाति दम्भ के खड़े खम्भ पर फहरा केतु प्रशस्त !
प्रायश्चित प्रेम का तुम सा कौन करेगा अन्य ?
गिरे गाज ढोंगी समाज पर, प्रेम तुम्हारा धन्य !
देव-याग से बढ़ कर पावन मानव का अनुराग,
ग्रहण गहनतर यहाँ,वहाँ यदि सरल, सरलतर त्याग !
तुमने बतलाया, मानव सब के ऊपर किस भाँति,
तुमने दिखलाया, नन्दन आता भू पर किस भाँति !

कितना अच्छा मानव का मन शुद्ध, प्रेममय होता !
मिट्टी का संसार सुवासित, दीप्त हेममय होता !
किन्तु हाय! ईर्ष्या-स्पर्द्धा का विवृत-वदन यह काल
अन्तर्ज्योति-वलय पर रचता है परिवेश अराल !
भौतिकता का दम्भ, दर्प नित बढ़ता ही जाता है,
और यन्त्र मानव के सिर पर चढ़ता ही जाता है !

❑

१९४६

रवीन्द्र - वन्दना

कैसे आऊँ ?
क्या लेकर मैं पास आपके आऊँ !
खाली हाथों कब जाते राजा के आगे ?
बिना पुजापा के गुरु के सम्मुख भी जाना मना शास्त्र से;
गन्ध-माल्य के बिना नहीं जाते देवालय;
और नहीं जाते भरसक घर सगे बन्धु के भी–
लिए बिना योग्य प्रीति-उपहार,
और, आप तो चारों ही हैं एक अकेले !
राजा हैं; गुरु हैं; ईश्वर हैं; सगे बन्धु भी !
राजा क्या, राजाधिराज हैं आज आप साहित्य -जगत के;
गुरु क्या हैं, गुरुदेव आप उनके जो-
तन, मन, धन न्योछावर कर-
मानवता को चाहते उठाना ऊँचा ।
भव्य-भावनाएँ भारत की,
–नए-नए सपने अपने नयनों के देखे,-
नव्य कल्पनाएँ भारत की,
–पुञ्ज-पुञ्ज आलोक, दीप्ति यह राशि-राशि रे,–
अग-जग को चौंका देनेवाली अनुभूति - विभूतियाँ,
यह सब क्या है ?
लोकोत्तर ऐश्वर्य सत्य प्रतिभा का सुन्दर,
आप उसके ईश्वर हैं;
और बन्धु हैं आप विश्व के,
सहज उदार-चरित !
वसुधा ही है कुटुम्ब, निष्पाप आपका !
आया हूँ मैं दर्शनार्थ, पर क्या लाया हूँ !
कहाँ आपके योग्य अर्घ्य–उपहार !
आप रवीन्द्र कि जिसका शुभ आलोक
तिमिर-हरण,

अज्ञान-तरण-तारण है !
मैं मिट्टी का झिलमिल-झिलमिल दीप
कि जिसकी धूमिल लौ के गिर्द जमा है अन्धकार
निर्बाध !
हाँ, आते हैं याद मुझे शबरी के जूठे बेर
लखा राम ने जिन्हें भाव से,
चखा राम ने जिन्हें चाव से !
औ' आते वे याद कुटज के ताजे-टटके फूल
यक्ष ने जिन्हें आँसुओं से था धोया,
हौले-हौले हिलते-कँपते हाथों में था जिन्हें सँजोया;
उनमें से ही एक उजलती जलती मुझमें
जिसने खुदी जला दी मेरी,
अपनापन का तंग दायरा मेट समेट लिया ओछापन
भस्म हो गया अपने ही में सिमट-सिकुड़ कर
खुश रहने का किमाकार संस्कार !
आज आपके ज्योतिर्मय दर्शन के क्षण में
वह चिनगारी चमक-दमक कर, फूल-फैल कर
बना चाहती है उज्ज्वल अङ्गार-हार ही!
आस और विश्वास, प्रखरतर ही होगी वह !
'और प्रकाश, विकास और' की तीव्र पिपासा
भाषातीत अगीत सुरों में लहरें लेगी !
कहिए कवि-गुरुदेव,-'तथास्तु' कि ऐसा ही हो !
दिया आपने देश-देश को जो सन्देश महान-
विश्वबन्धुता और विश्वमानवता का है-
अपने जीवन में उतार कर
उसे सुनाऊँगा जन-गण को,
जर्जर तन को,
आहत मन को !-
गुरु-दक्षिणा चुकाऊँगा मैं ! ◆

❑ २५.१.१९५८

◆ श्री देशमुख की संस्कत कविता का भावरूप

कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति

अनगाया गाया तुमने, अनसुना सुनाया !
आत्मा नई गढ़ी कविता की, काया काया !!
अन्तर्मुख जीवन की वंशी के रन्ध्रों से–
लहरी छहरी स्वरित; मेघ-मेदुर मन्द्रों से–
वज्र-गर्ज निकला; दहला दिक, देश काल से,
धक् - धक् पावक प्रकटा भस्म-कराल भाल से !
स्वर पर स्वर भर अन्त:स्तर में अवनि-व्योम के-
रूप निखार दिए मटमैले सूर्य्य - सोम के !
मान पुरातन को, नूतन को प्राण दिए हैं,
शिशु को मधु मुसकान, तरुण को गान दिए हैं !
वृद्ध धरा के शुष्क वक्ष में अमृत उतारा,
कवि, तुमने 'रवि' नाम ग्रहण कर नभ को तारा !
शून्य, शून्य से परे भरे झंकार अनश्वर !
शब्द -गुणक आकाश ? नहीं, अक्षर स्वर-निर्झर !

X X X

अग्निकोण में उगे, दीप्ति भर अम्बर दमका,
पूर्व अपूर्व हुआ कि विश्व में भारत चमका !
ऐसी क्या सांस्कृतिक ज्योति पहले थी प्रकटी ?
कालिदास, कल्पना तुम्हारी बढ़ी या घटी ?
फेनराशि मुद्रित समुद्र की कूल से लगी,
स्वर्ण-तरंगें तुंग हुईं, जल-आत्मा सुलगी !

स्वस्थ रुधिर उन्मन शिराओं में परिधावित,
महानन्द का ज्वार अतल प्राणों में प्लावित !
मरु-मरु में तरु, तरुओं मे नव-नव पल्लव-दल,
गुच्छ-गुच्छ कलियाँ, सपंख मकरन्दित परिमल;
अणु अणुओं से, कण प्रवाह से, रेख चित्र से,
सहज-सहज मिल गए शून्य औ' पूर्ण मित्र-से !
चढ़े शिखर मध्याह्न, स्वर्ण अंगार हो गया !
अन्धकार जल गया कि जल कर क्षार हो गया !!
देश-काल की, जाति-धर्म की, रंग-रूप की-
सीमाएँ निर्धूम जल गईं रंक-भूप की !
नव-मन्थित वड़वाग्नि, अवश दावाग्नि से कढ़ी,
कुटिल-जटिल जठराग्नि असह-समराग्नि-सिर चढ़ी
अरणि-रणित, पूर्णाभषिक्त वन्दना अभय-सी
सजल विश्वमानवता-विश्वात्मा की जय-सी
मन्त्र विश्वमानवता का सुर, रेख, शब्द में,
हुआ विश्वकवि, विश्व कृती युग सहस्राब्द में !
आन्तर राष्ट्रियता से राष्ट्रियता विस्तारी,
गङ्गा गहरी हुई सप्त सागर की प्यारी !
तुम अशोक, श्री हर्षदेव के धर्म-दूत-से,
देश-विदेश भ्रमे, विरमे पथ तपःपूत से;
राग-गगन बन्धन-घन में चिर-मुक्ति-दामिनी,
कौंध गई संश्लिष्ट-प्राण कर दिवस-यामिनी !
देश-देश के भाव तुम्हारी दृष्टि से खुले,
निभृत मर्म से नीरव निकले विश्व-रस-घुले !
सेतुबन्ध यह महा पूर्व-पश्चिम-तट- व्यापी,
जीवात्मा ने परमात्मा की सीमा मापी !
चरमाचल की ओर बढ़े; रंजित जलदों में -
ज्योति विच्छुरित हुई तुम्हारी श्रम-फलदों में !
बहुतों को एकाकी सूने तट पर छोड़ा
अर्जन भर-भर लिया, न उनसे नाता जोड़ा !
पर 'सोनार तरी' न बढ़ी लो, तुम्हें भूल कर,

फस्ल तुम्हारी गई उतारी कूल-कूल पर !
विश्ववन्द्य, कुछ पुनर्जन्म-सा हुआ कला का,
कालिदास के मेघ-संग वह उड़ी 'वलाका'-
मूर्त कीर्ति-सी अमर तुम्हारी चिर अव्यय में,
अवनी-अम्बर-संगम की आभा अक्षय में !
विश्व - गान गाएँगे, 'गीताञ्जलि' गाएँगे,
ऊपर वाले भूपर वालों को पाएँगे !
जीवन को दी परम पूर्णता मरण वरण कर,
खुलें सर्ग स्वच्छन्द तुम्हारे छन्द - चरण धर !

X X X

तीव्र निविड़ नीरवता, मूक व्यथा का कवि हूँ !
शान्तं पापम्, कौन कहेगा -रवि की छवि हूँ !!
ऐसी वाणी कहाँ, छोर छू लूँ अछोर का !
पद पखार आँसू खो लें भ्रम नयन-कोर का !!

❑

५.५.१९६१

राष्ट्रपिता

ज्योति सत्य की, छाँह अहिंसा की, बुन-बुन कर,
राष्ट्र गढ़ा तुमने उच्चादर्शों को चुन कर !
मन्दिर - सा पावन, पर्वत - सा रूप उभारा,
अभ्रङ्कष उच्छाय, जड़ा चूड़ा में तारा !
रवि- शशि करते-से परिक्रमा जिसकी दिखते,
नील झील पर स्वर्ण-रजत किरणों से लिखते-
यश की गाथा अमर तुम्हारी अक्षर, अव्यय !
नीति - धर्म की मानवीय स्वर-भरित समन्वय !!

काया ऐसी किमाकार आलोक-खिली - सी,
कहीं नहीं देखी धरती सुरलोक-मिली - सी !
पर अपनी आत्मा को तुमने छिपा लिया क्यों ?
जो अदेय था दिया, देय ही नहीं दिया क्यों ?
आत्मा की द्युति शीतल उज्ज्वल गङ्गा - धारा,
आत्मा की द्युति तीव्र-तीक्ष्ण, तोड़े तम-कारा,
वह दो राष्ट्र-पिता, शरीर तो सजता जाता,
देह-मोह बढ़ आत्मतेज को तजता जाता !

X X X

चन्दन-वन काटे गए लौह-तरु रोपे,
बदली जाती हैं वनफूलों से तोपें !
आतङ्क अमित्रों का, मित्रों का संशय-
जीवन को होने नहीं दे रहे निर्भय !

अपवित्र हुआ सौन्दर्य, नयन हैं लोहित,
शैव्या अञ्चल- पट बेच पालती रोहित !
है ब्रह्म बना माया स्वीकृति पाने को,
भारती रो रही विरुदावलि गाने को !
क्या राम-राज्य का स्वप्न स्वप्न था केवल !
अस्तित्व मिट रहा, विश्वात्मा है निश्चल !

X X X

भव्य भवन हो, मन्दिर हो, परती धरती हो,
राष्ट्र तुम्हारे आत्मतेज का सदाब्रती हो !
अनासक्ति वैयक्तिक सुख-दुख से हो मन की,
समवेदित हो पीड़ा अग-जग के जन-जन की!
राष्ट्र तुम्हारा विश्वबन्धुता का प्रतीक हो,
राजमार्ग वह न हो, भले वह नई लीक हो !
शान्ति-सुधा वसुधा पर बरसाए अन्तर से,
राष्ट्र-पिता, हो सुन्दर विश्व तुम्हारे वर से !

❑

५.७.१९६२

'निराला'

(१)

पनघट पर घट का घटाटोप-
गत-गौरव ; गौरव-निहित गोप,
वह बंद प्रणयमय कोप नन्द-नन्दन पर ;
व्याकुल कालिन्दी-कुंज-कूल
उड़ती वृन्दावन-मध्य धूल
अब कहाँ तनों में फूल, मनोहर मधुकर !

(२)

चूना न चन्द्र से तरल-गरल,
चुभती न मुकुल-शय्या परिमल,
कल-कमल-मुखी अब कौन सरल-उर, भोरी;
पल-पल पर बल खाती फिरती,
निज रूप-भार से भी गिरती
ले युगल-कलस तिरती स्मर-सिन्धु न गोरी !

(३)

सस्मित-चित सरस-सुमन चुन-चुन
वनमाल गूँथती देख शकुन
अब रुन-झुन, रुन-झुन कहाँ मधुर नूपुर रव !
यौवन-वन-विहरण, अलि-विलास
उल्लास-हासमय रम्य-रास
हँस रहा वहाँ अब सर्व-नाश, दैविक-दव !

(४)

तज रे ब्रज की रज-कीर्ण गली
नागिन-लट, मृदु-पट, कनक-कली
वृषभानु - लली छल चले छली चञ्चल-पद
गा रहे सूर,- "प्रभु अबु ठगौ न"
मीरा बिसूरती,-कौन, कौन !
मति, देव, बिहारी मौन, मिटा मधु का मद !

(५)

अति-पतित भावनाएँ गढ़ -गढ़
गत-तृष्ण-कृष्ण-सिर पर मढ़-मढ़
उत्तुङ्ग शृङ्ग चढ़-चढ़ पाताल पधारे ;
जैसे बालक निज छाया से
था ब्रह्म खेलता माया से
उस पर कवि-मन भरमाया, स्मर-शर मारे !

(६)

विक्रय कर प्रतिभा का निर्दय
कुछ अन्य फिरे गाते तन्मय-
नृप-गुण, कहते विनिमय यह है कविता का ;
निर्वासित करता एक रुष्ट
तब करते पर को सु-परितुष्ट
बादल-दल कजल-पुष्ट सत्य-सविता का !

(७)

यों नीरस हिन्दी-क्षिति ललिता
स्मर-शर-सङ्कुल-कवि-कुल-कलिता
अबला-वलिता दलिता होती जाती थी
तुलसी-सूराजञ्चित चिर-धन्या
भारति-सुरभारति की कन्या
नागरी परी वन्या बन दुख पाती थी !

(८)

कर छिन्न-भिन्न तम वीत-तन्द्र
उतरे तब नभ से हरिश्चन्द्र
अनुरूप रूप, उर मधुर, मन्द्र स्वर मनहर !
निज तन-मन-धन, सब कर अर्पण
दे दिया उसे नव-आकर्षण
पीयूष पिलाया हर्षण अंजलि भर-भर !

(९)

छाई परिमल ले हरियाली
लोहित पल्लव, डाली-डाली

फिर कूक उठी कोयल काली मधु-वन में
इस छवि की स्थिरता हेतु धीर
तब कर्म-वीर श्री महावीर
सोचने लगे प्राचीर-सृजन-विधि मन में !

(१०)

गुरु, गुप्त, सनेही, रामचरित,
शङ्कर, नवीन, लोचन, जन-हित
श्रीधर, लक्ष्मी-धर, रत्नाकर भर भाई,
पाण्डे नारायण रूप, प्रखर
हरिऔध काव्य-सृति-सौध-शिखर-
से सज सरस्वती नई निखर कर आई !

(११)

तन्द्रिल उर-तन्त्री झंकृत कर
कुछ कवि अक्षय-मधुमय स्वर भर
कर रहे अमर शुचि सुरुचि-पूर्ण कविता को ;
बढ़ते ही नित्य चले जाते
खा ठेस मन्द-मृदु मुसकाते
तम - पथ में चमकाते प्रतिभा-सविता को !

(१२)

इनमें ही पन्त, प्रसाद प्रमुख
कृत-विद्य, सिद्ध-रस, सौम्य, सुमुख
सह दुख-सुख विविध विधानाभिमुख जगत नव ;
माधुरी-भरी पहले की गति
महिमान्वित अन्य दयामय-मति
यदि एक प्रकृति की प्रतिकृति, पर आत्माऽऽसव !

(१३)

शेली-रवीन्द्र-नन्दित-निनाद
हिन्दी-उर्वर-उर पर अबाध-
छवि - छायावाद अगाध जलधि-जल छाया
उसकी चञ्चल लहरों पर स्थिर
गुरु-ग्राह मकर-कर से घिर-घिर
पौरुष-प्रगल्भ, कवि एक लभ्य-चिर आया !

(१४)

परि-पुष्ट काय, अनपाय-द्योति
तम-तोम-होम कर-ज्वलज्ज्योति
भारती-आरती, सुधा-च्योति-लौ-विभ्रम
उद्दाम-प्रतिभ, अतिशय प्रशान्त,
आयत-दृग, दीप्त-जलाट, कान्त,
पर-तेजो ऽ सह श्री सूर्य्यकान्त रवि-मणि-सम !

(१५)

भावाभिव्यक्ति की शक्ति प्रचुर,
ध्वनि-रणित रम्य-रस-प्लावित उर,
अति-प्रौढ़-पदावलि-वलित-काव्य-कृति-धाता;
मन्थरतर-स्वर-भर सूक्ति-सूति
उन्मुक्त-युक्ति, अनुभूति-भूति
अभिनव भवभूति अलौकिक-मोद-प्रदाता !

(१६)

चतुरस्र प्रगति, रोचन-लोचन
अद्भुत करते काव्यालोचन
कविता-वन्दिनी-विमोचन गुरु कारा से
नित-नित नव-निर्मित-सफल-यत्र
दीधिति-अवधीरित-तम-सपत्र
हिन्दी-नभ में विच्छुरित-रत्न तारा से !

(१७)

गौरव से गिरि-गुरु सा उन्नत,
पर मृदु-स्वभाव धरती-सा नत,
अविरत साहित्योन्नति-रत ललित-कलाञ्चित;
अतिमेध्य मध्य-मणि काव्य-हार,
दार्शनिक, दीप्त-चक्षुः-प्रसार,
शारद-वीणा-झङ्कार-सार मधु-मज्जित !

(१८)

सर्वतोमुखी-प्रतिभा-भासुर
करुणा-वरुणालय निर्भय उर
कण्टकमय-पाटल-हारि-हार-सुरभित-मति

सुन्दर, शिव, सत्य सदोपयुक्त
गद्य में, पद्य में समोन्मुक्त
हिन्दी-सेवक का रूप धरे सुर या यति !

(१९)

आनन्द, इन्दु-रस-विन्दु अमर,
जिसका गिरि-उर-भेदक निर्झर,–
क्षिति का ही-तल शीतल करता लोचन-जल;
जिसकी भाषा घन, सिंह-नाद
उच्छल-प्रतिभा-यौवनोन्माद
उन्मुक्त भाव जिसके निनाद-से कल-कल !

(20)

सेवा-ब्रत-हृत-पार्थिव-प्रमोद
हिन्दी-मन्दिर का मूर्त्त मोद
साहित्य-सरस-अच्छोद कमल की माला,
चिर आत्माराम, अगाध-मेध,
सारस्वत सित-शर शब्द-वेध,
अविराम-सिद्ध वह नाम प्रसिद्ध-'निराला'!

❑

मैगरा, २१.१०.३५

महादेवी महीयसी

शब्द-ब्रह्म की भाव-सृष्टि कल्याणी,
वीणापाणि, तुम्हारी वीणा वाणी;
श्रद्धा के सित सुमन पदों पर अर्पित
और प्रथम नत मेरा मन अभिमानी !
उमड़े-घुमड़े, वर्षोपल भी बरसे,
मुक्ताविन्दु चुने तुमने, पर, कर से ;
तार-हार 'घन-सार' उदार तुम्हारा,
विनिमय-योग्य नहीं कैसे भी वर से !
प्रगति चेतना और रूढ़ि की जड़ता
–उभय बीच मर्य्यादित सिन्धु उमड़ता ;
तपी रेत में धार अमृत की बहती,
नील बिन्दु पर शुभ्र इन्दु-कर पड़ता !
लोक वेद के द्रवित ज्ञान की प्रतिमा,
वर्त्तमान में तुम अतीत की महिमा ;
ओ भारत भारती, कहूँ मैं कैसे –
तुम भविष्य-नारी की गौरव-गरिमा !
प्रिय प्रकाश की पारदर्शिनी छाया,
विरस ज्ञान की श्री, चिर निर्मल माया ;
समरस आत्मा की, सुन्दर मन्दिर-सी,
पावक-पावन प्रेम- हेम की, काया !
गद्य नहीं, वह उन्मद, गद्‌गद गङ्गा,
कविता की कालिन्दी करुण- तरङ्गा,
चित्रकला की पाटल अन्तःसलिला,
दिव्य त्रिवेणी तुम धृत-पार्थिव-अङ्गा ।

X X X X

यह उदात्त साहित्य - नीलिमा-धारा
रखे सामने 'ध्रुव' आदर्श तुम्हारा ;
सूर्य्य-चन्द्र को राहु-केतु की शङ्का,
तुम अरुन्धती सूक्ष्म, सनातन तारा !

❑

१९५०

राधा

(प्रणय पर्व का आरंभ)

(१)

नीली री मुरली ! तूने मुझे पुकारा ?
क्या करूँ कि मेरा तन हारा, मन हारा !
रुकते-झुकते सुनता रहता है ताने,
फिर भी जीवन-स्वन-उन्मन मन जो माने !
सुर का रंगीन, लचीला ताना-बाना,
आतुर उर को भाता चुपके बुन जाना !
रोके न रुके, ऐसा प्रवाह दुर्दम है,
इस निविड़ राग का कहाँ सुगम सरगम है !
इच्छा के चरण निगूढ़, सरकती सर्पिल,
तन केंचुल-सा निर्जीव बिखरता झिलमिल !
सुर के सुमेरु पर लय की ज्योति तुम्हारी,
यात्रा अनन्त, मन उन्मन, तन पदचारी !
लोकापवाद घन-नाद, मोर मेरा मन,
जब इतर त्रस्त होते, वह करता नर्तन !
है सेतु तोड़ कर तीव्र-वेग बढ़ जाता ,
स्वर-गरल अमृत-निर्झर का सिर चढ़ जाता !
सादे बादल-से फैले पर हंसी के,
हैं प्राण गान बन गए विकल वंशी के !
अन्तर्मन्थन के बुदबुद, शंका गहरी,
स्वर-कुमुद खिले तो पारदर्शिता लहरी !

हिमकण बन हीरक-हार हृदय छलकाता,
सुर छिड़ा, मुँदे दृग, जाने क्या हो जाता !
सम पर थर-थर कर प्राण, बिंधे स्वर-शर के-
झरने लगते, ज्यों पीत पात पतझर के !

सरसों फूली आँखों में टेसू खिलते,
उर में लेता आकार राग सुर मिलते !

है मर्म पिघलता, कैसी ऊष्मा होती !
स्वर घहराता सम्पुट में भरते मोती !
ज्यों आदि नाद-नद ब्रह्म-रन्ध्र से छूटा !
भर जाता हो जीवन-घट तल से फूटा !!
सारङ्ग-रागिनी शुद्ध, गौण, -गुनती थी,
अवनी पर वृन्दावनी कहाँ, सुनती थी !
धरती निरखे निस्तब्ध, सुरों की लीला,
तारों का नभ इतना था कभी सुरीला ?
सुर छू लेता बढ़ कर उर की गहराई,
यों ही न धरा की साँस लौट कर आई !
नाचें न, करें क्या और, उठीं जो लहरें,
पायल पानी-पानी हो कण-कण छहरें !
मैं नाद-नदी में बहती, तट कटता है,
उत्कट अस्तित्व नहीं तट में अटता है !
लय की बोझिल घन-घटा घिरी कानों में,
पर बरसी चुप, हल्के-हल्के, प्राणों में !
सुर सुन कर मन का असुर तना, रण माँगा,
लय हुआ न लय में ? तजा तान-तन ? भागा ?

मणियों-सी जगमग, फूलों-सी हँसती-सी,
मधु-गन्ध-भरी स्मृतियाँ श्लथ तन कसतीं-सी !
भर शिशिर ज्योति अलसाए मधुर मरण में,
अष्टमी चाँद ज्यों, 'उन्हें' खिलाती मन में :-

पर्वत के पीछे सूरज रज में डूबा,
रज ताम्र हुआ, वन का मन ऊबा-ऊबा-
हल्के भारीपन से, घन सूनेपन से;
क्षण भाग रहा था छिटक दूसरे क्षण से !

निस्तब्ध पवन में ध्वनियों की हलचल थी
गौओं की, समवय बाल-बालिका-दल की;
नीड़ों में चोंच उठाए नवजातों की,
दाने चुग आती खगियों की पांतों की ।

मन्थर-पद चलती छिपी धूल-बदली में-
रस बरसाती थीं गौएँ, गली-गली में-
घंटी, घुँघरू, पैंजनी गूंजती जाती;
कोई नवजाता माता से बतराती ।

गोरस-सागर में उभरे-से द्वीपों की-
थी गन्ध फैलती सान्ध्य द्वार-दीपों की!
मैं पनघट-पथ पर खड़ी लिए घट रीते,
जल का कलकल कहता : कितने पल बीते !

तट का क्षणभंगुर बन्धन कटता रहता,
जीवन कब रुकता, 'कल'-'कल' कहता बहता !

मैं तो तिलतिल परिचित थी अपने तन से,
जाने कब इसने जोड़ा नाता मन से !
मन के अनथके चरण ने कितनी दूरी-
की पार ? नहीं पर तन की यात्रा पूरी !
तन की यात्रा सुनसान अचिह्नित मग पर,
पग कभी ताल पर, कभी ताल ही पग पर !

पंछी किस पथ से उड़ा, चिह्न क्या होता ?
पर मन उड़ता तो तन में काँटे बोता !
कण्टकित किए तन चली, फूल मुस्काए,
कोई न भुलावे में मन के यों आए !

क्या दग्ध सत्य, धूमिल मिथ्या पर फूलूँ ?
इस निरुद्देश्य जीवन-यात्रा को भूलूँ ?
उद्देश्य अनिश्चित होने से क्या होता ?
उद्देश्य जहाँ हँसना, कोई क्यों रोता ?
उद्देश्य मरण हो सकता क्या जीवन का ?
उद्देश्य बिन्दु बनना कि सिन्धु से घन का ?
मन निरुद्देश्य उड़ता, तन पीछे पड़ता,
मन हो चाहे विजयी, क्षण-क्षण तन लड़ता !
आकाश नहीं, तो क्या नीहार निहारूँ ?
सर चढ़ा हुआ है, कैसे तार उतारूँ ?
मरु का रेतीला गला कभी खुलता है ?
सागर का मन्द्र कहीं भीतर घुलता है ?
उन्मुक्त-कण्ठ आह्वान जिधर से आता,
उस ओर विजन जीवन सवेग बढ़ जाता !
सूरज की हों या चन्दा की, किरणें पर-
करतीं पीछा, यदि जीवन की स्थिति गति भर !
प्राणों के क्षण-क्षण कम्पन ही स्वर भरते,
भावों की गति से गीत सँवर कर झरते !
गुञ्जन में गूँथी हुई लहरियाँ मेरी,
हैं प्रलय-ज्वार में तिरती तरियाँ मेरी !
मैं गति हूँ, जीवन हूँ बहता पानी हूँ !
शाश्वत सागर-संगम की अभिमानी हूँ !!

जल का कलकल, थीं आँखें छल-छल करतीं,
साँसें सवेग चलते-चलते थीं मरतीं !
बीते दिन की, रीते घट की सुधि आई,
पोंछे आँसू, साँसें सँभाल कर धाई,
घट डुबो दिए, भींगा पट उझक निचोड़ा,
—किसने सुगन्ध की लपट उठा शर छोड़ा ?
उल्लास-गान छेड़ा उदास वेला ने !
चन्द्रमा मेघ-सा निकला सुरधनु ताने !

हरिचन्दन-गन्ध उड़ी, चौंके, काँपे दृग,
कस्तूरी महकी तो अनका मन का मृग !
वनमाल ढालने लगी गन्ध की धारा,
वह रूप न था, रूपायित सौरभ सारा !
परिमल-पिच्छिल सुन्दरता, फिसल गई रे,
ओ शिलीभूत शाश्वत, मैं धार नई रे !
यह धरती गन्ध-भरी, अनुभव में आया,
उस दिन आकाश-कुसुम की देखी माया !
कज्जल जल में उज्ज्वल परिमल था पाया,
आलोक समेट सका न गन्ध की छाया !
आमोद गोदता वन का पवन-झकोरा,
उस दिन जाना, क्यों कोई तत्त्व न कोरा !
तात्त्विक अस्तित्व अगन्ध रहे तो कैसे ?
पर मन तन से यह बात कहे तो कैसे ?
तम के तमाल-वन में सत् खाता झोंका !
फूलों की गन्ध-भरे फल को अवलोका !!
मैं गन्ध-अन्ध थी, फूल खुले थे सारे,
मैं शून्य हुई, टिमटिमा उठे तब तारे !
साँसों के चढ़ हिन्दोल वेदना प्यारी–
बन गई कँटीले मग की-सी फुलवारी !

थे देख रहे, मैं आँखें बंद किए थी,
सब दीख रहा था, ज्यों चाँदनी पिए थी ।
सकुचीं, ठिठकीं, चमकीं, कौंधी, मुसकाईं,
तारों में कुछ उभरा, आँखें भर आईं ।
झिलमिल सन्ध्या, गहरी रजनी, फिर हल्का–
कजरारी पलकों से प्रभात-सा झलका !
फिर क्या, अनदेखा रेखाङ्कित हो आया,
मेरा मन-पाखी धुले पंख धो आया !
ज्यों स्फटिक-फलक पर इन्द्रनील की झाईं,
मेरा उर-सा भर अगम गगन-छवि छाई !

इस अमिट चित्र की खिंची प्रथम जब रेखा,
कैसी आँखों से उन्हें हाय ! था देखा !
घुमड़ी न टिकी, यह बदली दृष्टि कहीं भी,
थी शेष अरे, क्या पहली सृष्टि कहीं भी !
सज गई घास हिम-कण से, लता सुमन से,
यमुना तरङ्ग से, खुली भूमि घन वन से !
लगती लय की गुदगुदी जड़ित पद-तल में,
रे किरण उलझती अन्धकार कुन्तल में !
अधमुँदे स्वप्न-नयनों में सजग कुतूहल,
निंदियारे मानस में दल खोले शतदल !
थक रहा नीर गम्भीर तीर से टकरा,
ढह रहा तीर निस्सीम नीर से चकरा !

अब उखड़े-उखड़े-से स्तर-स्तर अन्तर के,
मैं तो जीती पल-छिन गिन-गिन, मर-मर के,
प्रिय-मिलन-भीख निष्ठुर जग से मत माँगें,
हूँ सावधान ये प्राण निकल मत भागें !
छवि तुड़े-मुड़े डैने दिखलाते अब भी,
कब आँखों पर चढ़ गई हाय ! थी सब की !
वह सप्तपदी, वह सात सुरों की भाँवर,
क्वाँरी न रही सिन्दूरी साध, उजागर-
ब्रज हुआ, छा गया क्या उपहास-उजाला,
सोलहों कला वाला जब निकला काला !
कैसे यह लाज समेटूँ, भेंटूँ जग से,
लूँ दृष्टि घुमा पलकों के पोंछे मग से !
ओठों में शिथिल हँसी है सोई-सोई,
मत अश्रु-वेश में इसे जगाए कोई !
जो ठहर गई है मोड़ सुला कर पीड़ा
वह उतरे दृग-तारों से, करे न क्रीड़ा !
कुछ बिछल गगन-गङ्गा से छन आए क्षण,
मत प्रात-किरण चमकाए सपनों के कण !

मेरे बुदबुद शब्दों का अर्थ लहरियाँ-
बतलाती हैं:- टकरातीं तट से तरियाँ !
मझधार गोद की गहराई दिखलाती,
विस्मय भर डूबी तरियाँ हैं उतरातीं !

आधा आधार, अधूरी-सी परछाईं,
निरयन था अन्तर्नयन, कौन छवि छाई !
जूड़े में सुरधनु, तार हार पृथु उर पर,
हीरक किरणों के कर्णफूल, ज्योतित स्वर
बोली : "भोली, तू उषा-निशा से डरती ?
मैं शुभ्र अभ्र की सस्य-श्यामला धरती !
उभरी कि भरी, गहराई में हूँ रहती,
आनन्द-वेदना लहर-थपेड़े सहती !
विष फैल गया, यों ही न गगन-तन नीला,
धरती का मुख सूखा, चल अञ्चल गीला !
मैं मरण जन्म का, जरा समद यौवन की,
रिस गई व्यथा, यह अकथ कथा जीवन की !
क्या प्यार ? हार वह आत्म-विजेता मन की,
चिर-विरह-वेदना सहज विनीत मिलन की !
प्रिय से वियोग, अप्रिय से सहज समागम,
बनता हुलास अवसाद, शरज्ज्योत्स्ना तम !
शाश्वत नश्वरता को कहते परिवर्तन,
है अमर मरण ही यहाँ चिरन्तन जीवन !
वह था बालक मन जो वंशी से खेला,
सीधे थे नयन जिन्होंने ऐसा मेला-
स्वप्नों के रँगे खिलौनों का लगवाया,
हँस खुले कण्ठ से वातावरण गुँजाया !
अब तो प्रति सुर पर सम रख कर गाना है,
साँसों को ताल मिला आना-जाना है !
तेरा लावण्य बना दर्पण जग-दृग का,
चन्दा को स्मरण दिलाता लाञ्छन मृग का !

है तेरी तृषा मृषा, तू तृप्ति किसी की,
तू छुईमुई ? आत्मा की दृप्ति किसी की
बहती है तन्वी तरी अरी, यह तेरी-
जिस ओर, छोर तक, उसकी भी गति हेरी
यह रूप उधर ही बहता, तो बहने दे,
हो उधर धरोहर, नाम इधर रहने दे !''
थर-थर ओष्ठाधर, स्वर न फूट था पाया,
कह सकती तो कहती-''ओ निर्मम माया !
सब अलङ्कार से ढका, खुला मुँह लेकर,
मेरी धमनी की रुधिर-धार में खेकर-
वाणी की तरणी, उतरीं इसी किनारे !
तुक कौन ? कभी थी देखा साँझ-सकारे ?
''जड़, शिखर नहीं, यह प्रणय कल्पना-तरु है ?
गुञ्जरित कुञ्जवन धूल उड़ाता मरु है ?
तो कौन घोलता प्राणों में मादकता ?
क्यों कल्लोलित मझधार ? पदाङ्कित सिकता ?
''माता की ममता, स्निग्ध पिता की छाया-
तज सहज भाव से हृदय यहाँ क्यों आया ?
''दुख के कर्दम को जा सकता क्या भूला ?
क्यों सुख का कमल उठा सिर नभ में फूला ?
''दीपक को देखा? ज्वाल-माल को देखा ?
आलोक-देश के सजग काल को देखा ?
''धूसर सन्ध्या-कृश-किरण-करुण छवि देखो,
फिर सुप्रभात में ललित-राग-रवि देखो !
सब छिन्न-भिन्न कर अस्त-व्यस्त करती हो,
क्या सत्य तुम्हीं माया ? ऋत से डरती हो ?
''यमुना कल-कल-स्वर कहती-बढ़ूँ, बहूँ मैं !
तुम बढा रहीं शंका, आतंक सहूँ मैं !!
''अस्पष्ट और छायामय, धूमिल छलना,
तुम मृत्यु-दीप, जीवन का अपना जलना !

"यह चिदाकाश की आग परिधि के भीतर-
जलती, आलोक लुटाती तम को पीकर !
"मङ्गल-तारा-सा सारा नभ भर देता,-
यह प्रणय हृदय में है यदि घर कर लेता !
"इस सागर में मैं ऊब-डूब रह पाती,
अनझरे आँसुओं में सवेग बह पाती,
पाती सार्थकता स्थिर प्रवाह होने की !
निर्बाध नित्य के दुरवगाह होने की !!

मैं पंख-कटी विहगी, आँधी की कदली,
अधजली पतङ्गी, मरु-तट-उछली मछली,
जीने दे रहा समाज न वृन्दावन का,
मरने न दे रहा महा मोह मोहन का !
घुटती भीतर, कब सिसक-सिसक हूँ रोती ?
उत्कल उत्सुकता में नीरवता सोती !
यों प्राण न अपने हाथ, साथ कृश काया !
आलोक न बाँधे बँधता, हारी छाया !
दी छिपा आग, अब धुआँ छिपा लूँ कैसे ?
पी गई जहर, अब लहर सँभालूँ कैसे ?
कोई बतलाए: मेरा रथ पथहारा !
नीली री मुरली, क्यों कर मुझे पुकारा ?

❑

कौन मेरे प्राण को पागल किए है !

कौन मेरे प्राण को पागल किए है !
डालियों से फूल झर-झर झर रहे हैं,
तर रहे है, बिखर-बिखर निखर रहे हैं,
कौन अञ्चल दिग्वधू का भर दिए है !
कौन मेरे प्राण को पागल किए है !!
मंजरित वन, पिंजरित तन, गुंजरित मन,
और सौरभ--भरित वातावरण उन्मन,
कूकती कोयल कि जैसे मधु पिए है !
कौन मेरे प्राण को पागल किए है !!
चकित हो चंचल चराचर देखता हूँ,
फिर स्वयं में लौट कर कुछ लेखता हूँ,
सर्ग को कि निसर्ग मुठ्ठी में लिए है !!
कौन मेरे प्राण को पागल किए है !
विधि-निषेध स्वयं -रचित है जाल ही क्या ?
सत्य यमुना-पुलिन-तरुण-तमाल ही क्या ?
नीति आहत, नियति शत जीवन जिए है !
कौन मेरे प्राण को पागल किए है !!

❑

संस्कृत पढ़ के भार ही वहन किया। जानकीवल्लभ जी की सहृदयता का बड़ा सबूत यह है कि कालिदास उनके चित्त में व्याप्त हैं।

- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

अच्छी भाषा और अच्छे भाव-बोध के लिए आजकल जानकीवल्लभ के साहित्य का पारायण करना चाहिए। शास्त्री जी पण्डित और कवि -दोनों हैं। अपने काव्यानुभव से वे कवियों और काव्यों में ऐसी विशेषताओं का निदर्शन करते हैं जिनकी अपेक्षा कोरे आलोचक से नहीं की जा सकती। निश्चित वे उच्च कोटि के आलोचक और निबंधकार हैं।

अब आप तमाम विरोधों और अवरोधों को पारकर चले हैं। सफलता-श्रद्धांजलि आपकी दृष्टि चाहती है।

'होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!'

-त्रिलोचन

उनके गीतों का सहज संगीत परिचित गहराइयों और ऊँचाइयों में भी ताजगी के साथ गूँजता है। कविताओं की साधारण रूपरेखाओं और प्रतीकों की बीच भी नये अर्थ, नये भावचित्र मिलते हैं।

-कुँवर नारायण

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ तथा भाषाविद् होने के साथ ही साथ छायावादी युगान्त के पश्चात् पैदा हानेवाली रिक्तता को भरनेवाले हिन्दी काव्य-जगत के उन थोड़े से कवियों में से हैं जिन्होंने जातीय चिन्तन तथा चेतना के उन्नयन के लिए अनुशासित काव्य-सृजन की अनिवार्यता को सिद्ध कर दिया है।

-शलभश्रीराम सिंह

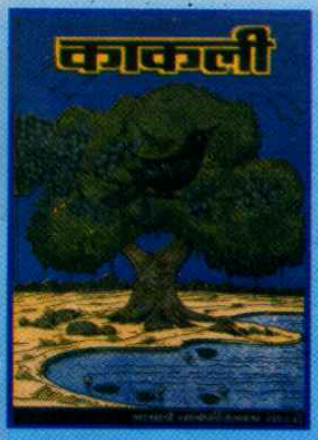

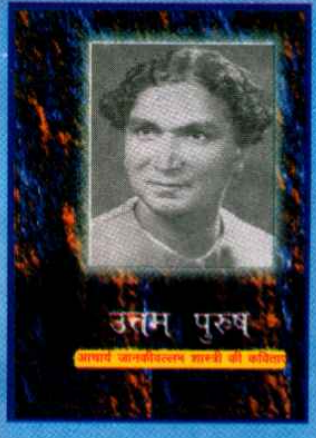

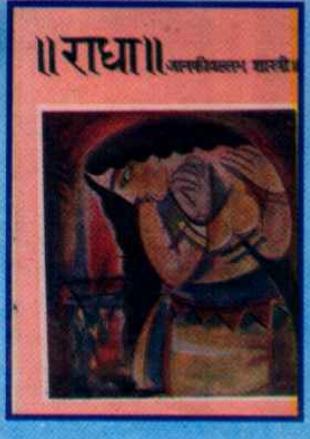

उत्तम पुरुष आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री